

निवेदन

पानी, धर्म और राजनीति की वार्ता, सृष्टिकर्ता की कथा और शिवपुराण की तरह ही अनंत है। पानी, धर्म और राजनीति के अंतर संबंधों का ओर छोर नहीं – पानी का मुद्दा अति दृष्टि का हो या अनावृष्टि का उसका धर्म और राजनीति से सीधा और गहरा संबंध है। विज्ञान और विभिन्न धार्मिक आख्यान एक मत हैं कि सृष्टि की अनंत कथा का केंद्र बिन्दु जल ही है। आबादी या जनजीवन का केन्द्र बिन्दु भी पानी है। आब या इंसानियत का पर्याय भी है। इज्जत आबरु का आब संस्कृत की अप धातु से विकसित हुआ है। आज से लगभग 400 वर्ष पहले पानी के समुचित विज्ञान की एक संक्षिप्त परिभाषा अकबर के खास मुसाहिब अब्दुल रहीम खानखाना ने की थी :

रहिमन पानी रखिये, बिन पानी सब सून ।

पानी गये न उबरे मोती, मानस, चून ।।

जल ही जीवन है, जल से ही जीवन है। जहां आब वहीं आबादी है। इंसान वहीं आबाद है जहां आब है। इंसान की आब का सही संदर्भ है – जो अपने पानी को सुरक्षित नहीं रख सकता वह जीवन के अधिकार से वंचित हो जाता है। जो व्यक्ति और समाज अपनी आबरु नहीं बचा सकता उसके जीवन को खतरा है। हिन्दू संस्कृति में जल का एक नाम तीर्थ है। भारतीय संस्कृति के इसी तीर्थ को केंद्र बिन्दु बनाकर हम अपने देश की भुखमरी, रोजगार और राष्ट्रीय नवनिर्माण की चर्चा और विश्लेषण का प्रयास कर रहे हैं।

आधुनिक हिन्दुस्तानी मानस आज जिस हीन भावना विडम्बना और दुविधा से पीड़ित है इसका अंदाजा एक सहज तथ्य से लगाया जा सकता है। भारत के 'इह लोकवादियों' या 'सेक्यूलर' प्रगतिवादियों के लिए जातीय संज्ञा के रूप में 'इंडियन' का प्रयोग तो धर्म निरपेक्षता का परिचायक है किंतु 'हिन्दू' सांप्रदायिक अवधारणा है। मूलतः 'इंडियन' हिन्दू का ही अंग्रेजी उच्चारण है इससे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। यह ठीक उसी तरह है जैसे अंग्रेजी का 'इंडियन' फ्रेंच का इंदै है। मध्य एवं पूर्व मध्य युग में सिंधु नदी की वादियों में बसने बसने वालों के लिए अरबी, पश्चिमी एशिया और भूमध्यसागर के इर्द-गिर्द बसने वाले लोगों ने जिस समूह वाचक संज्ञा का उपयोग किया वही शब्द 'हिन्द-हिन्दी हिन्दू' है। सिंधु वासियों के लिए 'हिन्दू' शब्द की उत्पत्ति सिर्फ इसलिए हुई कि अरबी में स और ह का उच्चारण सम्मान है। ऐसा ही जोधपुर और जोधपुर से उत्तर-पश्चिम मारवाड़ के इलाके में बोली जाने वाली मारवाड़ी में होता है। जोधपुर संभाग में सात को हाथ, शाम को हाम, सोजती को होजती, सुचेता को हुचेता बोलना सहज उच्चारण है। चूंकि मध्य एवं पूर्व मध्यकाल में अधिकांश यूरोप का हिन्दुस्तान से संपर्क पश्चिमी एशिया के रास्ते से था इसीलिए सिंधु का अंग्रेजी नामकरण 'इंडस' और फ्रेंच में इंदै हुआ। मूलतः हिन्दू और इंडियन दोनों ही भौगोलिक संज्ञाएं हैं। मजेदार तथ्य तो यह है कि भारत के

बुद्धिवादी और मुसलमानों के अतिरिक्त अन्य अत्याधुनिक व्यक्ति भी स्वयं को इंडियन की संज्ञा या विशेषण से तो सुशोभित कर सकते हैं लेकिन हिन्दू कहने में उनकी धर्म निरपेक्षता खतरे में पड़ जाती है। यह उदाहरण गुलाम मानसिकता से उपजी हीनता और विडम्बना का साधारण नमूना है। हिन्दू हीनता की ग्रंथि का दूसरा पहलू 'हिन्दुत्ववाद' का उग्रवादी व्यवहार और आचरण है जिसके चलते आज 'हिन्दुत्ववादी' को यह अहसास ही नहीं है कि हिन्दू को 'वैदिक' 'सनातन' का पर्याय मान लेने से ही हिन्दू 'सनातन' या सर्वमान्य नहीं हो जायेगा। हिन्दुस्तान के इस्लामी युग का भौगोलिक सांस्कृतिक 'हिन्दू' ब्रिटिश औपनिवेशिक युग में अचानक ही हिन्दुत्व में परिवर्तित हुआ और सनातन, वैदिक एवं पौराणिक का पर्याय भी बन गया – कैसे? इस प्रश्न पर हमारे समाज में विचार विमर्श की कभी शुरुआत ही नहीं हुई। यह कैसी विडम्बना है कि पिछले पांच वर्षों में 'हिन्दुत्व' के सर्वाधिक विकृत उफान के बाद भी इस देश के विद्वत्जन ने यह विश्लेषण आवश्यक नहीं समझा।

वेद, पुराण, रामायण, महाभारत इतिहासेतर ग्रंथ हैं या ऐतिहासिक दस्तावेज? इस प्रश्न का उत्तर उत्तरदाता की सुविधा पर निर्भर रहता है, किसी निर्धारित तर्क और प्रमाण पर नहीं। हिन्दुत्ववादी को निजी स्तर पर नितांत ढिठाई और निशङ्कपन का तनिक भी अहसास नहीं और वर्तमान भारतीय समाज के किसी भी वर्ग में यह शालीनता नहीं, सामर्थ्य नहीं कि इस अकर्मण्यता पर विचार कर सके। यह ढिठाई कौम के बेआबरु हो जाने का लक्षण है। अविचार और अकर्मण्यता की यह परिस्थिति हिन्दू अस्तित्व के लिए खतरे की घंटी है।

राजनीति यानि राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया का मूल मुद्दा आब और आबरु का है। इसलिए आब और आबरु की बात की शुरुआत राजनीति के किसी भी मुद्दे से ही जा सकती है जैसे 'फिल्म स्टार अमिताभ बच्च की असमान्य लोकप्रियता, लता की सुरीली आवाज या विश्व कप फुटबॉल प्रतियोगिता में हिस्सेदारी तक भी न पहुंच पाना या 'हम आपके हैं कौन' जैसी फिल्म की असाधारण सफलता। पानी की चर्चा की शुरुआत भारत की 100 करोड़ आबादी के संदर्भ से भी की जा सकती है।

पानी का संदर्भ असीमित है – पाश्चात्य इतिहास की पुस्तकों में भी यह बताया जाता है कि आदिम समय से सभ्यता की शुरुआत जल स्रोतों के निकट ही होती थी। इस तरह पानी के असीमित संदर्भ है, मगर हम इसकी चर्चा को देशकाल की परिधि में बांधने की दृष्टि से भारतीय भूखमरी और राष्ट्र निर्माण के अंतरसंबंधों का विश्लेषण पिछले चार वर्षों में छेड़े गये 'स्वदेशीकरण' के आंदोलन की हास्यास्पद विफलता से करेंगे।

बीसवीं सदी के अंतिम दशक में संघ परिवार और 'गांधी वादियों' द्वारा चलाये गये इस आंदोलन की विफलता कोई साधारण घटना नहीं है। संघ परिवार ने अयोध्या स्थित इबादतखाने के विध्वंस के प्रत्यक्ष कार्यक्रमों की शुरुआत जनवरी 1989 में की। चार वर्ष के सतत् संघर्ष और संगठन से संघ परिवार

ने अपने संकल्प का 6 दिसंबर, 1992 को निर्वहन किया उस दिन मक्का खुर्द का अस्तित्व नेस्तनाबूद हो गया। घोषित राम मंदिर निर्माण कार्यक्रम का प्रथम चरण 'रामशिला' पूजन 19 अगस्त 1989 को बद्दीनाथ मंदिर में संपन्न हुआ। 9 नवंबर, 1989 तक करोड़ों 'रामशिलाएं' अयोध्या पहुंच गयी। विश्व हिन्दू परिषद के आंकड़ों के अनुसार मोहल्ले, गांव, कस्बे, नगर, शहर मिलाकर 2,97,633 स्थानों पर शिला पूजन हुआ जिसमें 10 करोड़ 68 लाख लोग शामिल हुए।

4251 स्थानों पर श्री राम महायज्ञ हुए जिनमें 8 करोड़ 29 लाख 31 हजार रुपये चंदे के रूप में एकत्रित हुए। अगले 45 महीनों में संघ परिवार का संगठन गांव-गांव तक फैल गया। 'श्री राम मंदिर' निर्माण के नाम पर संघ परिवार ने 200 करोड़ रुपये से अधिक की राशि एकत्रित की है। समूचे देश में शायद एक भी गांव, मोहल्ला ऐसा नहीं जहां संघ परिवार के सक्रिय कार्यकर्ता भारतीय जनता पार्टी का अलख न जगा रहे हों। पर्यवेक्षकों का अनुमान है कि न्यूनतम 5 लाख स्वयं सेवक कार्यकर्ता देश भर में संघ परिवार द्वारा आयोजित विभिन्न राजनीतिक एवं रचनात्मक कार्यक्रमों में नितदिन हिस्सेदारी करते हैं। पूर्वकालिक वेतनभोगी कार्यकर्ताओं की संख्या भी दो लाख से कम नहीं। ऐसा मजबूत कार्यशील और अनुशासित ढांचा दुनिया में शायद किसी भी राजनीतिक-सामाजिक संगठन के पास नहीं। पिछले 500 वर्षों में 'खुर्द मक्का' विध्वंस जैसा व्यापक दीर्घकालीन, संघर्षमय घटनाक्रम दुनिया में कहीं भी गैर सरकारी स्तर पर आयोजित नहीं हुआ। इतनी सामर्थ्य और ऊर्जा के बावजूद संघ परिवार ने 'स्वदेशीकरण' के आंदोलन को एक मिली मीटर भी आगे नहीं बढ़ाया। संघ द्वारा छोड़े गये स्वदेशी आंदोलन की असफलता पर गंभीरता से विश्लेषण करने की आवश्यकता है। मुद्दा ही बेमानी है, या संघ परिवार का प्रयास ढकोसला था?

यह सब सवाल हिंदुस्तानियों के पानी/आबरू के सवाल है। इन सवालों के क्रियात्मक उत्तर में ही राष्ट्र निर्माण की योजना निहित है क्योंकि इन सवालों के जवाब जबानी नहीं, कारगुजारी से ही संभव है। ऐसी नई राजनीति के अंकुरण के प्रयास में यह आलेख प्रथम प्रस्तुति है।

आपकी सहज प्रतिक्रिया जानने से भविष्य की कार्य योजना में सुविधा होगी।

निवेदक

अनाम 'हिन्दू'

द्वारा लोकायन, 13 अलीपुर रोड, दिल्ली-110054

एवं दी स्कूल आफ डेजर्ट साइंसेज

सांप्रदायिक वैमनस्य और बढ़ती विदेशी गुलामी की मानसिकता के जो लक्षण दिखाई पड़ते हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि भारत देश एक खतरनाक दौर से गुजर रहा है। भारतीय मानस किस कदर गुलाम बना है इसका सहज आंकलन संभव नहीं। पिछले दो-तीन वर्षों में बहुस्तरीय एवं विभिन्न संस्थाओं

— स्रोतों से शुरू किये गये अनेक प्रकार के प्रयासों के बावजूद हिन्दुस्तान में स्वदेशी की बहस खड़ी नहीं हो सकी। डंकल समझौते पर हस्ताक्षर से पहले भी और बाद में भी और महाराष्ट्र सरकार द्वारा विद्युत उत्पादन के लिए किये गये 'एनरॉन' समझौते को रद्द कर देने और उस पर पुनर्विचार शुरू कर देने के बाद भी 1992—93 में शुरू किया गया स्वदेशी आंदोलन एक थका बूढ़ा बैल सिद्ध हुआ जो न तो हंटर की मार से खड़ा हो सका न हरे चारे के लालच से।

संघ परिवार, सर्वोदयी—गांधीवादी संगठन, विभिन्न समाजवादी—मार्क्सवादी गुटों ने इस मुद्दे को जनमानस के स्तर पर उभाड़ने का 'जी जान' से 'प्रयास' किया। लेकिन कुल मिलाकर पिछले तीन बरसों में छिड़ी स्वदेशी की बहस, आंदोलन और संघर्ष 'सदाबहाहर' कार्यकर्ताओं की 'गर्मजोशी' की सीमा से जरा भी आगे नहीं जा सकी। अफसरशाही के दो चार नेक किंतु भूतपूर्व सदस्यों को छोड़ कर अन्य किसी भी व्यवसायी वर्ग से कोई इक्का—दुक्का नवीन व्यक्तित्व भी इस प्रयोजन में सक्रिय नहीं हुआ। स्वदेशी आंदोलन की वैसी ही दशा है जैसी कि कम्युनिस्ट पार्टी के मजदूर संगठनों द्वारा आयोजित 1955 की रेल हड़ताल की है। कम्युनिस्ट पार्टी ने आज 40 बरस बाद भी हड़ताल समाप्ति की घोषणा (जारी) नहीं की। वह शायद आज इस सवाल का उत्तर ढूंढ रहे हैं कि हड़ताल वापसी की घोषणा से मजदूर आंदोलन के साथ जो विश्वासघात हो जाएगा उसकी जिम्मेदारी किसकी होगी। संघ परिवार भी इसी उहापोह में है कि 'स्वदेशी आंदोलन' की समाप्ति से जो राष्ट्रदोह होगा उसमें संघ परिवार भागीदारी कैसे कर सकता है? 1992—93—94 में जिन गुटों और विचार संगठनों ने स्वदेशी आंदोलनों ने स्वदेशी आंदोलन की शुरुआत की वह सभी इसी असमंजस के शिकार हैं।

रोचक तथ्य तो यह है कि बहुराष्ट्रीय संस्थानों का प्रभाव, नकली अंग्रेजियत और नितांत अनर्गल, निरर्थक उपभोग की चाह जंगल में लगी आग की तरह फैल रही है — संघ परिवार जैसे स्वदेशी आंदोलन के प्रवर्तक तो इस सेंक का आनंद भी ले रहे हैं, एनरॉन के भ्रष्टाचार में अब उनकी सक्रिय सहभागिता — किंतु स्वदेशी आंदोलन न चल रहा है, न समाप्त हुआ है और न स्थगित। इस घोर लज्जास्पद परिस्थिति को पहचानने की क्षमता भी हमारे तथाकथित विद्वतजन और विचारकों में शेष नहीं।

लगभग यही परिस्थिति अयोध्या स्थित मुगल कालीन आराधना स्थल के विध्वंस के संदर्भ में है, दुर्घटना के साढ़े तीन वर्ष बाद आज तक न तो विवाद समाप्त हुआ, न ही वैमनस्य और न ही मंदिर—मस्जिद निर्माण का निर्णय, ऊपर से काशी मथुरा को लेकर जोराजोरी चालू है। जड़ता और अनिर्णय से उपजा तदर्थवाद और धींगा—धींगी भारतीय समाज के अनचीन्हे संकट का लक्षण है। संकट से अधिक दुश्चिंता का कारण संकट निदान के प्रयासों का पूर्ण अभाव है। सांस्कृतिक पहचान, सांस्कृतिक धरोहर में बराबरी की हिस्सेदारी और सामाजिक संतुलन की समस्या पतंग के मांझे की तरह ऐसी उलझ गयी है कि छोर तो मिलता नहीं और सुलझाने की प्रक्रिया में गुत्थी उलझती चली जाती है।

नितांत वस्तुनिष्ठ होकर वर्तमान में समस्या का विश्लेषण करने पर राष्ट्रीय रोग के लक्षणों की जो समझ बनती है वह कुछ इस प्रकार है :

८

1. कुपोषण एवं लाचारी

निरंतर बढ़ते कुपोषण एवं लाचारी का सुरसा मुख जैसा विस्तार हमारे राष्ट्रीय संकट का सर्वाधिक प्रत्यक्ष प्रमाण है। ब्रिटिश साम्राज्यवादी शिकंजे में फंसने के बाद लगभग 18वीं शती के उत्तरार्ध से दक्षिण एशिया में जो बेकारी पैदा हुई और उसके चलते पिछले 150-200 वर्षों में जिस तरह कुपोषण और लाचारी का विस्तार हुआ उसका कोई निदान हम आज तक नहीं ढूंढ सके। आजाद हिन्दुस्तान के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू के भाषणों में अवश्य ही आशा के संसार की रचना झलकती थी लेकिन उस समय भी भूखमरी और लाचारी की वास्तविकता का विस्तार निरंतर होता रहा।

19वीं सदी का प्रारंभिक दौर (यानि राजाराम मोहन राय का उदय) वह समय था जब हममें/हिन्दू समाज में पश्चिमी दुनिया की तरह आधुनिक बनने की ललक का प्रत्यक्ष अंकुरण हुआ। जैसे-जैसे यह ललक पनपी, पुष्पित, पल्लवित हुयी, उसी आकार और रफ्तार से बेकारी और लाचारी भी बढ़ती रही। आज हिन्दुस्तान में जितना व्यापक विस्तृत आधुनिक ऐश्वर्य से परिपूर्ण हिस्सा है, उसे डेढ़-दो गुना आबादी लाचारी और कुपोषण का शिकार हैं जितना हिन्दुस्तान आधुनिक सुविधाओं का भोगी है उससे कई गुना हिन्दुस्तान गरीबी रेखा के नीचे नितांत कंगाली और जिल्लत भरी जिंदगी जीने के लिए मजबूर हैं। इसी असंतुलन का नतीजा है कि राजनीतिक सामाजिक इच्छा और आम जन जीवन की वास्तविकता में समुद्री किनारों जैसी दूरी का विस्तार दिखता है। इस असंतुलन का वैचारिक सामना कौन करें? जब संपूर्ण समाज का दिल और दिमाग दोनों कंगाली से ग्रस्त हों तब भौतिक कंगाली से लड़ने का इरादा ही कौन करें? लेकिन राष्ट्रीय कंगाली तो जंगल की आग की तरह बढ़ती ही जाती है। 1980 के दशक में सूखा और अकाल के चलते मृत्यु और बीमारी का जो तांडव हुआ उस पर आज तक कहीं कोई विचार विमर्श नहीं है। आज तो हम यह पहचानने में भी असमर्थ हैं कि सूख और अकाल मृत्यु से संघर्ष एवं निरंतर बंजर होती जमीन को पुनः उपजाऊ बनाने की समस्या हमारी मुख्य राष्ट्रीय चुनौती है। भूमि को उपजाऊ बनाने की प्रक्रिया मूलतः पानी के विज्ञान का विषय है।

2. अज्ञान का विस्तार

आधुनिक बनने की कामना से जो ललक 'ज्ञानी' बनने के लिए उपजी है, वह सराहनीय है। लेकिन यह वस्तुस्थिति अपनी जगह कायम है कि जैसे-जैसे भारत देश में आधुनिक ज्ञान का विस्तार हुआ ठीक उसी अनुपात में अज्ञान का विस्तार होता चला गया। खगोल विद्या से लेकर व्यक्ति के निकटतम भूगोल तक की यही वस्तुस्थिति है कि जैसे-जैसे आधुनिक ज्ञान की परिधि का दायरा बढ़ता है वैसे-वैसे

हम अपने जलवायु, वातावरण और पर्यावरण से अनभिज्ञ होते जा रहे हैं और असामाजिक भी। राजस्थान में आज एक भी जीव वैज्ञानिक ऐसा नहीं जो राजस्थान में पाई जाने वाली जैविक विविधता पर सामान्य ज्ञान भी रखता हो या इसके किसी एक विशिष्ट अंग को विस्तार से जानता समझता हो। इस अज्ञान का एक ही उदाहरण पर्याप्त है कि विश्व के विशालतम पर्वत और समृद्धि स्रोत के संदर्भ में हमारा राष्ट्रीय अज्ञान हिमालय जैसा ही विशाल है, और इस अनंत अज्ञान से जूझने का इरादा इसलिए नदारद है क्योंकि हमें अपने अज्ञान का आभास ही नहीं है। इस खतरनाक अकर्मण्यता के लिए ही यह कहावत प्रचलित हुयी कि भारत देश का कर्ता तो स्वयं भगवान है वरना हमारी दुर्दशा तो और भी भयावह होनी चाहिए।

दिमाग की कंगाली साधारण बीमारी नहीं। भौतिक कंगाली के साथ मानसिक कंगाली का सम्मिश्रण संक्रमण काल और संक्रामक रोग का लक्षण है। इस जानुक परिस्थिति में मन और मानसिकता भी कंगाल हो जाते हैं। दिल और दिमाग की ऐसी कंगाली से ही उपजती है घोर भौतिक, सामाजिक असुरक्षा जिसकी अभिव्यक्ति भ्रष्टाचार की व्यापक स्वीकृति और अथाह संचय की प्रवृत्ति से होती है।

3. सर्वव्यापी गंदगी

उत्तर भारत में स्वच्छ जल के प्राकृतिक/कृत्रिम एवं स्थायी अथवा अस्थायी बहाव के स्थायी मार्ग/प्रवाह का नामकरण नला/नाला था। 1857 के आसपास तक दिल्ली में लगभग एक दर्जन नाले थे जो अरावली की पहाड़ियों से बरसात का पानी यमुना तक पहुंचाते थे और समस्त दिल्ली को भूजल से प्लावित रखते असंख्य कुओं, बावड़ियों और तालाबों को जलापूर्ति करते। आज यह सभी नाले गंदगी और शहरी प्रदूषण के प्रतीक हैं और कहलाते भी गंदे नाले हैं। समूचे देश का कोई छोटा बड़ा शहर ऐसा नहीं जहां पाखाने और गटर का पानी सड़क, आम रास्तों पर नफैल रहा हो। गांव की हालत तो और भी बदतर है। पवित्र पावन नदियों के प्रदूषण के सामने नालों की विकृति तो मामूली बात है आज तो देश की समस्त नदियां सिर्फ गंदगी का प्रतीक बन कर रह गयी हैं। आज तो पवित्र पावन गंगा भी हमारी गंदगी का प्रतीक बन गयी है। देश में छोटी-बड़ी बस्तियों की समस्त गंदगी को नदियों में ही प्रभावित किया जा रहा है। देश भर में फैली संडास, खुले दिशा मैदान (ओपन एयर लैटरिन) और मूत्रालयों की दुर्गंध ही हमारी आधुनिकता का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रतीक है।

बड़े शहरों में वायु प्रदूषण का भी अंत नहीं। दिल्ली, कलकत्ता, बंबई में तो एक झोंका स्वच्छ प्रणों के लिए शहर से पचासों मील दूर जाना पड़ता है। भारतीय मानस किस कदर सड़ चुका है इसका अंदाजा इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि दुर्गंध की समस्या के निराकरण के लिए विचार तक न होने पर कोई चिंता भी चिंता नहीं है। स्थानीय म्यूनिसिपल कमेटियों से लेकर राष्ट्रीय संसद तक इस विषय पर कोई बहस नहीं है, कोई आधा अधूरा प्रस्ताव भी नहीं है। बच्चों की स्कूली किताबों में इस विषय

पर कोई अध्याय नहीं है। आधुनिक भारतीय मानस की कंगाली का यह असाधारण उदाहरण है। नदियों के प्रदूषण का सीधा रिश्ता भूजल की उपलब्धता और कृषि योग्य भूमि की सजलता से है। डेल्टा क्षेत्रों के सर्वनाश की गाथा इस कड़ी का अंतिम छोर नहीं – समुद्री संसाधनों का सर्वनाश भी इसमें शामिल है।

4. राष्ट्रीय हानि का अपमानजनक विनिमय

हिन्दुस्तानी का मानवश्रम जितना सस्ता है उतना दुनिया में शायद और कहीं नहीं। भारतीय मुद्रा के अंतर्राष्ट्रीय अवमूल्यन पर भी कहीं कोई चिंता और चर्चा नहीं। जिस गैर बराबरी विनिमय के हम शिकार हैं उसका कोई साधारण अनुमान भी हमें नहीं है— फ्रांसीसी फ्रैंक की विनिमय दर लगभग छः रुपये हैं एक फ्रैंक से फ्रांस में सिर्फ मूत्रालय जैसी जनसुविधा का उपयोग किया जा सकता है इसके विपरीत आज भी भारत में एक रुपये में एक प्याला चाय और पांच रुपये में भरपेट भोजन उपलब्ध हो जाता है। एक रुपये में लगभग पाव किलो अन्न मिलता है जिसमें नमक डालकर चार मोटी रोटी सेंकी जा सकती है। लेकिन अंतर्राष्ट्रीय विनिमय दर हमारे खिलाफ है और हमारे जनमानस को इसका सहज अनुमान भी नहीं। 'स्वदेशी आंदोलन' के विविध नेतृत्व ने इस विवाद को खड़ा करने का कोई प्रयास ही नहीं किया कि 9–10 रुपये के बराबर मूल्य का डालर 35–36 रुपये की विनिमय दर से क्यों मिलता है। स्वदेशी मानवश्रम सस्ते होने पर हमारा ध्यान नहीं जाता है तो भारत की अंतर्राष्ट्रीय लूट से होने वाला अपमान भी दृष्टि से ओझल रहता है। पिछले 3–4 वर्षों में चलाया गया 'स्वदेशीकरण' का आंदोलन कितना नकली था इसका अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि इस राष्ट्रीय अपमान और लूट का जिक्र भी नहीं होता। 'यह लूट क्यों और कैसे संभव है?' इस विषय पर किसी भी नेतृत्व ने कभी कोई चर्चा आम जनता के साथ नहीं की। स्वदेशी आंदोलन के विभिन्न नेता उसी अभिजात्य वर्ग के सदस्य हैं या उस श्रेणी में शामिल होने के उम्मीदवार हैं जिनकी फिजूलखर्ची और निरर्थक अय्यासी के परिणामस्वरूप देश की अपमानजनक लूट संभव बनी रहती है। किस्सा मारुति कार का हो या नवीनतम धुलाई की मशीन का – भारत के अभिजात्य वर्ग को जीवन की वही शैली चाहिए जो आधुनिक पाश्चात्य समाज की है। हिन्दुस्तान के निरापद नेताओं को भी भव्य सुरक्षा चाहिये – इसलिये नहीं कि उनके जीवन का कोई राष्ट्रीय महत्व है, एसलिये भी नहीं कि वह इतने विवादास्पद चरित्र के व्यक्तित्व हैं कि उन्हें किसी आतंकवादी संगठन से खतरा है – भव्य सुरक्षा सिर्फ इसलिए चाहिए कि हिन्दुस्तान की भोली-भाली जनता को उनके दबदबे का अहसास कराने के अन्य कोई कारगर वजह या उपाय नहीं है। भव्य सुरक्षा के लिए हर चीज इम्पोर्टेड ही होनी चाहिए। नहीं तो सुरक्षा की भव्यता कैसी और सुरक्षाकर्मियों के शरीर पर विदेशी वर्दी नहीं, उनके हाथ में नवीनतम राइफल नहीं तो ऐसी सुरक्षा पंक्ति

किस काम की। गुलाम मानसिकता का प्रदूषण किस सतह तक हमारे मानस में व्याप्त है – इसका हमें कोई अनुमान नहीं।

संघ परिवार से किसी ने भी यह नहीं पूछा कि भाई अयोध्या के इबादत घर तोड़ने की इतनी 'बड़ी सफलता' के बाद स्वदेशी के मुद्दे पर क्यों 'टांग-टांग – फिस्स' हो गये? पूछे कौन? सर्वोदयी नेताओं को तो यह याद नहीं कि स्वदेशी आंदोलन के मूल प्रवर्तक रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने तो सहज भाव से 'स्वदेशीकरण' को अपने जीवन में ही नकार दिया था और बापू भी 1925 के बाद स्वदेशी की लड़ाई को आगे न बढ़ा सके। जहां गुरुदेव और गांधी असफल हो चुके हों वहां मृत्युलोक के साधारण जीवों के मुख से 'स्वराज्य' और 'स्वावलम्बन' जैसे शब्दों का अपमान ही होता है। 'स्वदेशीकरण' का आंदोलन तो तभी चल सकेगा जब 100 करोड़ नागरिकों के लिए स्वराज का आंदोलन चल रहा होगा। निकट भविष्य में किसी भी स्रोत से चलाये गये स्वदेशी आंदोलन की कोई संभावना दिखाई नहीं पड़ती, आने वाले लंबे समय तक राष्ट्रीय स्रोतों की अंतर्राष्ट्रीय लूट और देशाभिमान का घोर अपमान यूं ही चलता रहेगा।

5. विषाक्त सांप्रदायिकता

सांप्रदायिकता सर्वाधिक खतरनाक राष्ट्रीय बीमारी है। उपरोक्त चार लक्षणों के प्रभाव से जो असुरक्षा और गंदगी दिल और दिमाग को घेरती है उसकी मूर्त अभिव्यक्ति विभिन्न स्तरीय सांप्रदायिक वैमनस्य में होती है। चूंकि सांप्रदायिक दंगों में अक्सर खून खराबा होता रहता है इस समस्या पर फौरी तौर पर विचार-विमर्श, शांति का प्रयास आदिकुछ दिखावा करना ही पड़ता है। लेकिन इतनी सामाजिक ऊर्जा वाला प्रयास भी हमारे बस का नहीं रहा कि इस समस्या का कोई स्थायी निराकरण हम कर सकें। सांप्रदायिक वैमनस्य को एक शाश्वत सत्य की तरह स्वीकार कर लेना हमारा स्वभाव बन गया है साल भर में आजादी की 50वीं सालगिरह का समारोह संपन्न हो जाएगा लेकिन आज तक कोई गृह नीति नाम की व्यवसी कायम नहीं हुई राजनीति शास्त्र के भारतीय विद्वानों के बीच इस मुद्दे पर कोई व्यापक चर्चा का आयोजन भी कभी सुनने में नहीं आया। भारत सैंकड़ों बोलियों और दो कोड़ी से अधिक पूर्ण विकसित भाषाओं का देश है। अर्द्ध विकसित भाषाओं की संख्या भी 100 से कम नहीं और बोलियां तो सैंकड़ों की तादाद में है। लेकिन आज तक यह निर्धारित नहीं है कि बच्चों की प्राथमिक शिखा का माध्यम मातृभाषा हो या प्रांतीय भाषा। इतनी वैविध्यपूर्ण संस्कृति के देश में जहां सैंकड़ों आदिवासी समुदाय मौजूद हैं वहां प्रशासन का संघीय स्वरूप और 'स्वराज' की व्यवस्था का क्या ढांचा होगा? व्यापक समुचित अभिव्यक्ति गृहनीति का अभाव सामाजिक मूर्च्छा का लक्षण है – इसी मूर्च्छा का नतीजा है कि सांप्रदायिक दंगों की निरंतरता और व्यापकता में क्रमिक बढ़ोतरी और फैलाव हुआ है, जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय ऊर्जा का विध्वंसात्मक ह्रास हो रहा है। जिस देश/राष्ट्र की गृहनीति

ही नहीं है उसकी सुरक्षा नीति, विदेशी नीति और अर्थ नीति कैसे हो सकती है? संपूर्ण ढर्रा तदर्थवाद से लुढ़क रहा है।

मोटा-मोटी इन पांच लक्षणों और उनके सम्मिलित प्रभाव से वर्तमान राष्ट्रीय संकट का एक सरल अनुमान लगाया जा सकता है। यह मसला थोड़ा अजीब है कि 19वीं, 20वीं सदी में जब हमने एक आधुनिक, स्वतंत्र राष्ट्र बनने का सफर शुरू किया तो हमारा लक्ष्य था कि भारत एक प्रजातांत्रिक 'मानव अधिकारों' को मानने वाला, प्रगतिवादी, आधुनिक मानसिकता से परिपूर्ण (यानि दकियानूसी आचार-विचार से मुक्त) सशक्त, (बलशाली) वीर-ओजस्वी राष्ट्र बने, लेकिन इतिहास की धारा कुछ विपरीत दिशा में चलती दिखाई पड़ती है। हम ज्यों-ज्यों आधुनिकता की ओर अग्रसर हो रहे हैं, त्यों-त्यों कंगालों की संख्या, अज्ञान का दायरा, गंदगी की सड़ांध, राष्ट्रीय लूट खसोट का पैमाना, आम नागरिक की बेइज्जती, असुरक्षा का स्तर और कौमी दंगों की भयावहता बढ़ती ही जाती है। कौमी फसाद के विस्तार का एक सीधा नतीजा यह भी होता है कि 'सशक्त राष्ट्र' बनने की क्षीण आशा और भी धूमिल हो जाती है। इस निराशा से जो क्षोभ और खीज़ पैदा होती है उससे अन्य सभी बीमारियों का विस्तार होता है किंतु निराकरण नहीं।

८

1. संदर्भ लोक वार्ताएं : कबूतरों का चारा

जिस पानी, तीर्थ और आबरु की वार्ता हम शुरू कर रहे हैं – उस अनंत कथा यात्रा की शुरुआत 1983 में अचानक ही हुई थी। राजस्थान के मारवाड़ क्षेत्र में 1980 से व्यापक अकाल था। भुखमरी की परिस्थिति इतनी भयावह थी कि अकाल मौतों का सिलसिला निरंतर जारी था। 15 मार्च, 1983 को जोधपुर जिले की शेरगढ़ तहसील के एक गांव से 100 जनों की अकस्मात अज्ञात बीमारी से मृत्यु का समाचार प्रकाशित हुआ। अकाल, भुखमरी, बीमारी, लाचारी और मृत्यु के इस चक्र को प्रत्यक्ष रूप से जानने समझने के लिए 18 मार्च 1983 को हम सोलंकिया तला (जहां से अचानक बड़े पैमाने पर मृत्यु समाचार मिला था) पहुंच गये। दिन भर के सर्वेक्षण से यह स्पष्ट था कि अधिकांश जनता कंगाली की सीमा-रेखा लांघ चुकी है। बड़ी आबादी को आधा पेट भोजन भी उपलब्ध नहीं था। बाजरी के आटे का रेशमा (उबला हुआ गाढ़ा घोल कागज चिपकाने वाली लेई जैसा पदार्थ) भी आधा-चौथाई पेट ही मिल पा रहा था। घर-घर बीमारी का तांडव हो रहा था। गांव के चंद समृद्ध बनियों को छोड़ कर हर व्यक्ति 'दो-चार' रुपये उधर मांगने के अथक प्रयास में जुटा था।

18 मार्च, 1983 को सोलंकिया तला गांव से हम लोगों का पहला परिचय था। किसी से पुरानी मित्रता नहीं थी। गांव के सरपंच कुं नरपत सिंह से उसी दिन जान पहचान शुरू हुयी थी। उप-सरपंच गैनमल नाहटा के यहां भोजन की व्यवस्था थी। भोजन के बाद, पंचायत घर में जहां एक कामचलाऊ अस्पताल

भी खुला था – वहीं एक कमरे में सोने की व्यवस्था सरपंच जी ने करवा दी थी। पंचायतघर गांव से थोड़ा बाहर की तरफ है। अगली सुबह सूर्य उगने से थोड़ा पहले ही आंख खुली। निश्चित योजना के हिसाब से काफी देर हो चुकी थी। झटपट कपड़े पहने, कैमरा लटकाया और गांव की तरफ बढ़ गया। 40–50 कदम पर ही ठाकुर जी का मंदिर मिला – बगल में लंबा–चौड़ा स्थान है। यह खुला स्थान गांव का चौक कहलाता है। इस चौक में बीसियों मोर, सैकड़ों नहीं हजारों की तादाद में कबूतर, फाख्ता, चिड़िया आदि दाना चुग रही थीं। अनेक बच्चे कागज मिट्टी की टोकरी हाथ में पकड़े चुगगा डाल रहे थे। मेरे मन में तीव्र प्रतिक्रिया हुयी। समृद्ध बनियों का कैसा अनाचार है? इंसान तो भूखा मर रहा है और यह लोग पक्षियों को अन्न डाल रहे हैं। 1950 में मैं दर्जे पांच में पढ़ता था, उस समय स्कूल में यही पढ़ाया गया था कि भारत पापाचारियों का देश है, जहां पत्थर की मूर्तियों पर दूध बहा दिया जाता है लेकिन गरीबों के बच्चे कुपोषण का शिकार बने रहते हैं। इस स्मृति के चलते मन में एक झंझावात उठ रहा था – बार–बार कानों में आवाज आ रही थी, 'इंसान भूखा मर रहा है, गांव के ब्याज–खाऊ बनिये पक्षियों को चारा–दाना डलवा रहे हैं।' इसी उहापोह में पैर बच्चों के पीछे–पीछे उनके घर की तरफ उठ गये। एक बच्ची गांव के गरीब भगत दलित पूना राम भील की थी। एक बच्चा सांसी परिवार का था। उस दिन सांसी परिवार के पास अन्न की कुल मात्रा किलो–डेढ़ किलो बाजरी से अधिक नहीं थी – बाजरी के दलिये का रेशमा तैयार किया जा रहा था। 7–8 बच्चे बेसब्री से उसके पक जाने का इंतजार कर रहे थे। मैं हतप्रभ था। पूना राम भील और सांसी से पूछ रहा था कि 'घर में तो दाना नहीं और आप चिड़ियों को अन्न डाल रहे हैं?' उनका उत्तर था, "धर्म के घटने से ही अकाल पड़ता है, यदि धर्म और घट गया तो सर्वदा के लिए ही अकाल अर्थात् जलाभाव हो जाएगा। मिल–बांट कर खाना ही मानवता है, प्रभु की सृष्टि में सबका हिस्सा है जब कम है तो सबके लिए कम है, लेकिन जितना है उसमें सबका हिस्सा है।" (घटनाक्रम 19,20,21 मार्च 1983)

2. मौसर का समाजवाद

हमारी दूसरी कहानी सोलंकिया तला गांव के एक महत्वपूर्ण मुखिया हरिसिंह राठौर के परिवार में मौसर (मृत्यु भोज) की है। 1984 की गर्मियों में यूनाइटेड नेशन्स यूनिवर्सिटी के सहयोग से 'मारवाड़ की भुखमरी और जीवनयापन के स्रोत' विषय पर एक शोध कार्य चल रहा था। इस शोध के लिए सर्वेक्षण के दौरान एक शाम हरिसिंह जी का इंटरव्यू का समय तय था। मैं और गांव के सरपंच नरपत सिंह शाम से हरिसिंह जी का इंटरव्यू कर रहे थे। प्रश्नोत्तरी काफी लंबी थी पूरा करते–करते देर हो गयी थी। उसके बाद हरिसिंह जी ने हमें भोजन कराया। लगभग 11 बजे रात्रि विदा होने का समय आया। चलते–चलते हरिसिंह जी ने याद दिलाया कि दो दिन बाद तो हमें पुनः उनकी दाणी तक आना होगा। उस दिन उनकी भाभी जिसकी 10 दिन पहले मृत्यु हुयी थी की तेरहवी का 'मौसर' (मृत्यु भोज) था।

मेरा स्पष्ट और बेवाक उत्तर था कि मैं इस तरह के 'दकियानूसी, ऊलजलूल, समाजविरोधी' कार्यक्रम/आयोजन में कोई हिस्सेदारी नहीं कर सकता। हरिसिंह जी ने अवाक होकर मेरी ओर देखा। उनकी आंखों में तिरस्कार मिश्रित दया का भाव था, उन्होंने मेरा हाथ पकड़ कर बहुत ही सहज भाव से पूछा, 'पढ़े लिखे लोग ऐसी अज्ञान भरी बातें कैसे कर सकते हैं? बात करते-करते उन्होंने हमें वापस बैठा लिया और सहजभाव से सवाल किया कि 'यज्ञ किसे कहते हैं?' मेरा उत्तर था कि मेरी आर्यसमाज संप्रदाय में विश्वास करने वाली मां हवनकुंड में अग्नि प्रज्वलित करके घी, समिधा, सुगंधित सामग्री आदि से वैदिक मंत्रोच्चारण के साथ जो हवन करती है उसे ही यज्ञ कहते हैं। हरि सिंह जी मेरी ओर आश्चर्य से देखने लगे। दो-चार क्षण मौन रहकर उन्होंने आश्चर्य मिश्रित भाव से पूछा कि 'क्या आप यज्ञ और अग्नि होत्र में फर्क भी नहीं समझते?' अब मैं चकित था – मुझे अपने अज्ञान का आभास तो हो रहा था, किंतु स्पष्टता नहीं थी। हरि सिंह जी ने स्पष्ट किया कि अग्नि कुंड में समिधा, घी, सुगंधित सामग्री से मंत्रोच्चारण के साथ देवताओं को आहुतियां देकर जो कुछ किया जाता है उसे अग्निहोत्र कहते हैं और यह क्रिया संपूर्ण यज्ञ प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण अंग है किंतु स्वयं में यज्ञ नहीं। यज्ञ तो निजी आहुति, बलिदान या श्रम से प्राप्त किये गये फल में समाज और सृष्टि की हिस्सेदारी की क्रियाविति को कहते हैं। जिनी पुण्य बांटना ही यज्ञ है। हरि सिंह जी ने विस्तार से समझाया कि 'मेरी जो भाभी दस दिन पूर्व मर गयी उसका कुछ संचित पुण्य था, जो हमारे परिवार को मिला है। उसके संचित पुण्य में गांव-समाज की भी भागीदारी है। क्योंकि भाभी ने जो पुण्य संचित किया वह गांव-समाज के योगदान से ही संभव था। यदि उसका संचित पुण्य हम ही रख लेंगे तो यह अन्याय होगा। ऐसे अन्याय को ही अधर्म कहते हैं। मौसर (मृत्यु भोज) मृत व्यक्ति के संचित पुण्य को लौटाने की प्रक्रिया का प्रतीकात्मक स्वरूप हैं इस अवसर का नाम ही 'मौसर' है। 'समुचित पुण्य तो लौटाना असंभव होता है। मृत भाभी का यश और आध्यात्मिक पुण्य तो फिर भी हमारे पास ही रह जायेगा।'

हिन्दू धर्म और रूढ़ियों का यह स्वरूप मेरे लिए नितांत नया था। बात अपने आपमें बहुत दमदार थी – आंतरिक, तर्कपूर्ण और निर्दोष था, किंतु फिर भी बात स्वीकार नहीं हो पा रही थी। मेरे पूर्वाग्रह या दुराग्रह इतने कमजोर तो थे नहीं कि हरि सिंह जी के एक प्रहार से चरमरा जाते। लेकिन प्रहार इतना तगड़ा था कि मेरे आधुनिक विश्वासों को चूले तो हिल ही गयी। मेरा झंझावात शायद मेरे चेहरे पर दिखयी दे रहा था। शायद मेरे माथे पर पसीना भी झलक रहा था। चुप्पी के माहौल को हरि सिंह जी ने फिर तोड़ा और सहज भाव से कहा कि 'मृत्यु भोज की बात को भुला दीजिये। फिलहाल मारवाड़ में अकाल और भुखमरी के संदर्भ में जिस प्रश्नोत्तरी पर अभी आपने मुझ से विचार-विमर्श किया उसी पर बातचीत करें।'

ह.सिं. आपकी प्रश्नोत्तरी में एक सवाल यह भी है कि नियमित पेटभर भोजन मिलता है या नहीं? यदि नियमित पेटभर भोजन मिलता तो ऐसे कौन से मौके, वार-त्यौहार आते हैं जब आपको पेटभर भोजन का एहसास होता है। मैंने तो आपको उत्तर दिया कि मुझे, मेरे परिवार को नियमित पेटभर भोजन मिलता है, यह बताइये कि गरीबजन ने इस सवाल का क्या जवाब आपको लिखवाया?

अ.कु. उत्तर तो वही मिला जो आप इशारा कर रहे हैं। गरीबों को पेटभर भोजन का एहसास तो होली, दिवाली, आखातीज, जागरण (देवी देवताओं की मनौती के लिए आयोजित रात्रि जागरण-कथा-कीर्तन का आयोजन) और मौसर जैसे अवसरों पर ही होता है।

ह.सिं. इन सब अवसरों में भी मौसर ही प्रमुख है। लेकिन आपका मुद्दा तो शायद गरीबजन के कर्ज आदि का है। मृत्युभोज की रीत चलती है तो गरीबों को कर्ज करके ऐसा आयोजन करना पड़ता है। यही मूल समस्या है आपकी?

अ.कु. जी हां, मेरी दुविधा का यही कारण है।

ह.सिं. आपको सर्वे में ऐसे कितने परिवार मिले जिन्होंने किसी न किसी कारण कर्ज नहीं ले रखा?

अ.कु. महाजनों को छोड़ कर ऐसा कोई अमीर गरीब नहीं जो कर्जदारी से मुक्त हो।

ह.सिं. आप कितने परिवारों का सर्वे कर चुके हैं?

अ.कु. शायद 30 परिवारों का।

ह.सिं. इनमें से ऐसे कितने परिवार हैं जिन्होंने मौसर आयोजित करने के लिए ऋण लिया है?

अ.कु. करीब आधे परिवारों पर मौसर का कर्ज है और रकम भी कम नहीं – ब्याज आदि मिला कर बड़ी रकमों की देनदारी है।

ह.सिं. यह बताइये कि इनमें से किसी के मकान जमीन तो कूड़क या जब्त नहीं हुए या किसी ने जमीन बेच कर तो कर्ज नहीं चुकाया। यह सब उधारी ऐसी है जो परिस्थिति सुधरने पर ही चुकायी जाती है। महाजनों का दिवाला तो इस क्षेत्र में बहुत निकलता है – ऐसे दर्जनों महाजन आपको मिल ही जायेंगे जो कल लखपति थे आज से दस बीस साल पहले इलाके के नामी सेठ थे और आज साधारण गरीब दुकानदार हैं। लेकिन गरीब करसों की जमीन जायदाद को बिकवाने के मुकदमें इस क्षेत्र में कहीं भी आप नहीं सुनेंगे। आपको गांव आये काफी दिन हो गये हैं। आपने देखा है कि कैसे भुखमरी गांव में फैली परसों जब हमारे यहां मौसर होगा तो सारा गांव, सब गरीब-अमीर एक दो दिन तक पेटभर भोजन करेंगे। आपसे अनुरोध है कि इस मौसर में आप अपने सर्वे के लिए हालत समझने की दृष्टि से शरीक हों।

वास्तव में मौसर के दिन गांव के सभी रास्ते हरि सिंह जी की दाणी की तरफ जा रहे थे। जिसके पास ऊंट था वह ऊंट पर सवार होकर जा रहा था, जिसके पास ऊंट गाड़ा था उसका परिवार गाड़े

पर चढ़कर उधर जा रहा था। सभी के पास बाल्टी या कनस्तर थे। उस दिन सोलंकिया तला गांव में या आसपास के क्षेत्र में कोई भूखा नहीं था। सभी के पास बाल्टी या कनस्तर थे। उस दिन सोलंकिया तला गांव में या आसपास के क्षेत्र में कोई भूखा नहीं था। गांव के हिन्दू, मुसलमान, हरिजन, दलित और उच्च वर्ग के सभी लोग वहां मौजूद थे। दूर-दूर तक अपार जन समुदाय ही दिखायी पड़ता था। बड़ी-बड़ी भट्टियों पर विशालकाय कड़ाहे चढ़े थे जिनमें लपसी (दलिये से बनाया गया मीठा हलवा) पकाया जा रहा था। कड़ाहे इतने बड़े थे कि पकाने वालों को तीन या चार तख्तों की ऊंचाई से खड़े होकर लंबे बासों में फिट किये गये कोंचो से लपसी को हिलाना पड़ रहा था। घरों के अंदर सैकड़ों चूल्हों पर रोटियां सेंकी जा रही थी। हजारों की संख्या में लोग भोजन कर रहे थे और हजारों अपनी बारी का सब्र से इंतजार कर रहे थे। जो भोजन कर चुकते उन्हें नियमानुसार घर ले जाने का हिस्सा भेंट किया जा रहा था। इस भेंट में छोटे-बड़े का कोई अंतर नहीं था। महाजन हो या हरिजन लौटते समय भोजन तो सभी को ले जाना था। सभी घर से बर्तन लेकर आये थे। भेंट का अनुपात परिवार के सदस्यों के अनुरूप कम ज्यादा था। कहीं कोई भेदभाव नहीं, कहीं कोई लूट-खसोट या आपा-धापी के लक्षण नहीं। सभी आश्वस्त थे कि सभी की बारी आयेगी। भोजन का इतना विशाल, ऐसा सार्वजनिक आयोजन लेखक के लिए बिल्कुल नया अनुभव था। समाजवाद की कल्पना का ऐसा क्रियात्मक स्वरूप लेखक ने अपने जीवन में पहली बार देखा और अनुभव किया। यह अतिशयोक्ति नहीं कि इस दृश्य का अवलोकन करते समय लेखक के दिल और दिमाग में आधुनिकता/समाजवाद/प्रजातंत्र आदि का जनाजा निकल रहा था।

(यह आधार वार्ता जून 1984 में अनुभव की गयी। उन दिनों सोवियत यूनियन में 'ग्लासनोस्ट' और 'प्रसट्रॉयका' की छिट-पुट शुरुआत ही हुयी थी।)

3. इतिहासकार जहूर खां मेहर

तीसरी आधार वार्ता मारवाड़ी के सर्वाधिक पुरस्कृत लेखक जहूर खां मेहर से संबंधित है। जहूर साहब जोधपुर विश्वविद्यालय में इतिहास के प्रोफेसर हैं। उनके लेखन और अध्ययन की मुख्य जमीन मारवाड़ की आंचलिक संस्कृति है। मारवाड़ी गद्य में निबंध का स्वरूप जहूर साहब ने स्थापित किया और निखारा भी है। सोलंकिया तला में हरि सिंह जी के यहां मौसर का जो स्वरूप देखा और समझा था उसकी दास्तान गांव से जोधपुर लौटने पर जहूर साहब को सुनाई, उन्होंने पूरी बात सन्मयता से सुनी और मौन हो गये।

जहूर साहब जाति से सिंधी सिपाही है। लोक इतिहास के अनुसार सिंधी सिपाहियों की कौम का मारवाड़ में आगमन पाबू राठोड़ के प्रयास से 14वीं शताब्दी के आस-पास का माना जाता है। उसी मान्यता के अनुसार सिंधी सिपाही कौम अपने को पाबू और समस्त राजपूत जाति का बराबरी का भाई मानती

है। बहादूरी में भी सिंधी सिपाही कौम राजपूतों की तरह वीर मानी जाती है। इनके सभी रीति रिवाज लगभग राजपूतों की तरह है।

हरि सिंह जी से हुई मेरी वार्ता सुनकर जहूर साहब काफी देर तक विचारमग्न रहे। मेरे टोकने पर जब उनका मौन टूटा तो उन्होंने बताया कि वर्षों पूर्व जब उनके पिता की मृत्यु हुई तो उन्होंने पिता की हिदायत के अनुसार मौसर आयोजित नहीं किया। पिता एक नेकदिल, धर्म के पाबंद किंतु प्रगतिवादी मुसलमान थे। उन्होंने मृत्यु से पूर्व दोनों पुत्रों को (जहूर साहब के बड़े भाई पुलिस में अफसर थे – 1993 में उनका इंतकाल हुआ) यह स्पष्ट हिदायत कर दी थी कि उनकी मृत्यु के उपरांत मृत्युभोज जैसा कोई आयोजन न किया जाय। जो भी जियारत संभव हो उससे किसी मदरसे या लाइब्रेरी की इमदाद की जाय। पिता की मृत्यु के बाद इस संदर्भ में कौम की पंचायत बैठी और दोनों भाइयों को बुला कर यह समझाया गया कि पुरखों द्वारा चलायी गयी रीत/परंपरा तोड़ना अच्छी बात नहीं। दोनों भाई आधुनिक पढ़े-लिखे नौजवान थे, ऊपर से नेक, दयानतदार मुसलमान पिता की हिदायत भी यही थी कि गैर-शरीयती रिवाज को न चलाया जाय। कौम की पंचायत और मेहर भाइयों के बीच समझौता नहीं हो सका। दोनों भाइयों ने जियारत के लिए निर्धारित रकम, जो उस समय के हिसाब से काफी बड़ी राशि थी, पंचायत को सौंप दी और उसके उपयोग का निर्णय भी पंचायत को ही सौंप दिया। धार्मिक पाबंदियों में आई ढील या इस तरह की 'कुदीतियों' को सुधारना आधुनिकता का अभिन्न अंग है।

पिछले 40-50 बरसों में आजादी के बाद से मारवाड़ में आधुनिकता का प्रचार-प्रसार काफी तेजी से हुआ है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि धर्म-संप्रदाय आदि में भी सुधार की धारा चल रही है। धर्म-संप्रदाय में सुधार होता है तो कौमी तनाव और फसाद का सिलसिला भी चल निकलता है। पिछले 25-30 वर्षों में मारवाड़ में भी यह तनाव शुरू हो गया है।

किसी भी संप्रदाय में कट्टरता (यानि 'फंडामेंटलिज्म') की शुरुआत सहज भाव और नेक इरादों से होती है। लेकिन परंपरा में वास्तविक सुधार तभी संभव होता जब किसी रीत-कुरीत की समझ संपूर्ण हो और निरंतरता बनाये रखने की नीयत साफ हो। वरना परंपरा तो आसानी से टूट जाती है, किंतु उसकी जगह जो कुछ ईमान के नाम पर जन्म लेता है उसे न धर्म पहचान सकता है और न ही इंसान। मारवाड़ के गांव में सिंधी सिपाहियों के बच्चे सर्वदा से अन्य सभी की तरह पिता को जी सा और मां को 'काकी' आदि से संबोधित करते थे। किंतु पिछले पंद्रह-बीस वर्षों में जैसे-जैसे मदरसों का विस्तार हो रहा है मुसलमान घरों में अब्बा और अम्मी का प्रवेश हो गया है, ठीक उसी तरह जैसे हिन्दू घरों में मम्मी और पापा का पदार्पण हो गया है। आधुनिकता से समाज की समरसता पर क्या और कैसे प्रभाव पड़ता है इस प्रक्रिया का कोई अध्ययन हाल-फिलहाल उपलब्ध नहीं है, किंतु यह स्वतः है कि

मारवाड़ की सामाजिक समरसता पिछले 20–30 वर्षों में निरंतर टूट रही है। दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थिति और विडम्बना यह है कि भारतीय आधुनिकता में यह संभावना विकसित ही नहीं हो रही कि ऐसे मोनिटरिंग केंद्र स्थापित किये जा सकें कि आधी-अधूरी आधुनिकता के इस प्रभाव की सूचना ही समाज को मिल सके – इन लक्षणों का विधिवत समाजशास्त्रीय अध्ययन तो बहुत दूर की बात है। ऐसी संवेदनशीलता का तो नितांत अभाव ही है जो इस तथ्य को ग्रहण कर सके कि समाज की समरसता को तोड़ कर न तो क्षेत्रीय समस्याओं का समाधान किया जा सकता है और न ही राष्ट्रीय कंगाली को खत्म किया जा सकता है। सांस्कृतिक धरोहर का जीवन के अस्तित्व से सीधा रिश्ता है यह बात हमें जल्दी से जल्दी समझनी होगी।

4. वोट राज री इज्जत

आबरू, पानी और अनावृष्टि का मसला काफी पेचीदा है – यह मुद्दा अन्य कितने मसलों में उलझा है इसका सहज अनुमान ही नहीं होता। इतिहास का अध्ययन और आबरू के सवाल संयुक्त रूप में पानी की परिस्थिति को प्रभावित कर रहे हैं। इसी संदर्भ में हमारी चौथी वार्ता सायर बाई भीलनी की है, किस्सा वही मई-जून 1984 में संयुक्त राष्ट्र विश्वविद्यालय के सर्वेक्षण समय का है। गांव से तीन किलोमीटर दूर उत्तर-पश्चिम में भीलों की ढाणी है। वहीं सर्वेक्षण की प्रश्नोत्तरी पर पूनाराम भील (सायराबाई का 50 वर्षीय पुत्र) से विचार विमर्श हो रहा था। पूनाराम जी से मैं सवाल कर रहा था कि 'राठौड़ी राज में रोटी चोखी, सहूलियत से मिली या वर्तमान प्रजातंत्र में रोजी-रोटी की व्यवस्था पहले से अधिक सुविधाजनक है।' पूनाराम न तो मेरा प्रश्न ठीक से समझ पा रहे थे न ही कोई उत्तर दे पा रहे थे। मैं बार-बार पूनाराम को अपना सवाल समझा रहा था, लेकिन शायद पूनाराम जी के पास कोई तर्क नहीं था। वहीं खटोले पर उनकी मां सायराबाई बैठी थी और शायद बड़ी तन्मयता से हमारी बात सुन रही थी। अंततः जब पूनाराम कोई उत्तर नहीं दे पाये तो सायराबाई ने बीच में बोलना शुरू किया और स्पष्ट शब्दों में यह कह दिया कि 'राठौड़ी राज के वक्त रोजी-रोटी के हालात बहुत बेहतर थे।' बूढ़ी भीलनी का उत्तर मुझे पसंद नहीं आया। मैंने थोड़ा बारीकी से सवाल करना शुरू किया।

अ.कु. मां आपकी उम्र क्या होगी?

सा.बा. कांई बतावां – हिसाब किताब लगाकर – चार बीसी से 3–4 वर्ष ऊपर (लगभग 83–84 वर्ष) (बुढ़िया की यादाश्त के अनुसार उसका जन्म छप्पने से दो-चार वर्ष पहले का था – छप्पन। संवत् 1856 काल पिछली सदी के अंतिम वर्ष में पड़ा था।)

अ.कु. मां आपने जो कहा कि लारलें वक्तां में रोटी घणी चोखी न सुविधा सूं मिलती और आज जैसी कठिनाई नहीं होती थी – यह बात थोड़ा विस्तार से बताइये।

सा.बा. जागीरदार रंक्त लाटा, हासिल न जीवारी 'टैम ओ टैम' मिलता धनी रं घर जान कूकनो नी पड़तौ (जागीरदार के घर जा कर रोना चिल्लाना नहीं पड़ता था सब कुछ समय से स्वतः होता रहता था।)

अ.कु. मां, यह लाटा, हासिल, जीवारी तीनों अलग-अलग मिलते थे, इनमें क्या फर्क था?

सा.बा. फसल के समय जो हिस्सा जागीरदार अपनी फसल से देता उसे लाटा कहते थे। जितनी जमीन हम जोतते उसमें हमारे हिस्से का जो अन्न मिलता वह हमारी हासिल होती और जीवारी तो तीस त्योंहार गरीबों को गुजारे के लिए मिलती ही रहती। धनी (जागीरदार) हमेशा इसका ध्यान रखता कि रियाया की गुजर-बसर चलनी चाहिए और किसी के साथ अन्याय नहीं होना चाहिए। फसल को खलिहान में लाकर अन्न एकत्रित करने का समय और प्रक्रिया लटाई कहलाती है। उसमें जो हक/मजदूरी या रियाया होने के नाते अन्य सेवाओं के आधार पर मिलता है उसे लाटा कहते हैं। किसान को जोत की जमीन में जो हिस्सा मिलता है और जागीरदार को जो लगान दिया जाता है और जो लगान जागीरदार राजा के यहां जमा करता यह तीनों हक हासिल कहलाते हैं। गरीब व सेवक जातियों (हरिजन, झील, भाम्भी, सुथार, जोगी, ढोली आदि) को फसल, तीज, त्योंहार एवं अन्य शुभ-अशुभ अवसरों पर जो अन्य नेग या दान के रूप में दिया, उपलब्ध कराया जाता है उसे जीवारी कहते हैं।

अ.कु. उस समय यह सब मिलाकर जो कुछ मिलता उससे गुजर बसर सहूलियत से हो जाती थी?

सा.बा. गुजर तो चलती ही थी जो कमी होती वह धीनां (गाय) से पूरी जो जाती। घर में दूध, दही, घी, छाछ घना हो जाता।

अ.कु. लेकिन राठौड़ी समय में भी अकाल पड़ता तब गुजर कैसे होती?

सा.बा. काकं पड़तौ, घणी रं कोठार पॅ पैलो हक म्हारौ होतो। पैलां गरीबां नॅ टुकड़ो मिलता, पाछे घणीं जीमतां। इसो अन्याय-अधर्म कदी नी देख्यो कॅ कुछ रॅ कनै धना, बाकी भूक मरां।

अ.कु. मां, राठौड़ी राज इतना अच्छा था तो फिर से राठौड़ी राज की व्यवस्था लागू हो जानी चाहिए?

सा.बा. नईई बेटा, राठौड़ी राज री रोटी नी चाइजै। राठौड़ी राज नी चाइजै। वोट रॅ राज री इज्जत चाइजै। वोट राज रौ सुख राठौड़ी राजरी रोटी सु घणा, वोट राज रैसी -रोटी हो जासी।

सायरबाई का 1990 में देहांत हो गया। उनके पुत्र पूनाराम की उम्र अब 60 के ऊपर हैं वह न तो अपनी मां की तरह स्पष्टता से समझ सकता है और न कह सकता है। लेकिन पूनाराम तो 'अनपढ़' गंवार है। सायरबाई की तरह नये और पुराने का ऐसा सूक्ष्म अंतर तो आधुनिक पंडितों में, जो विद्वान पंडित माने जाते हैं उनमें भी देखने को नहीं मिलता। सूखा, अकाल, भूखमरी और औपनिवेशक मानसिकता का बहुत सीधा संबंध है। लेकिन इस सूत्र को 'सायरबाई' के साथ आत्मसात होकर ही

पकड़ा जा सकता है। आधुनिकता या प्रजातंत्र, जिसे सायराबाई ने 'वोट राज' की संज्ञा दी है, के लिए जो ललक सायराबाई के मन में जग गई है उसके संपूर्ण परिप्रेक्ष्य को समझना आवश्यक है। 'आधुनिक प्रजातंत्र' ने जो सामाजिक सम्मान हिन्दुस्तान की दलित जनता को दिलाया है वह साधारण उपलब्धि नहीं, किंतु सायराबाई ने 'वोटराज' के माध्यम से जो कुछ गंवाया है वह भी असाधारण हैं 'वोटराज' में विश्वास सायरा बाई के आधुनिकपन की पहचान है। लेकिन नव औपनिवेशिक दुनिया से सायराबाई की आशा/अपेक्षा आधुनिकता का सबसे बड़ा धोखा है। 'प्रजातंत्र या आधुनिकता' के माध्यम से जितनी भौतिक – सांस्कृतिक असमानताओं का जन्म हुआ वैसा मानवता के इतिहास में शायद कभी नहीं हुआ। हिन्दुस्तान के इतिहास के बारे में सायराबाई को यह जानकारी है कि 'इसो अन्याय कदी नी देख्यो – कि कुछ के पास तो आवश्यकता से बहुत अधिक है और बहुतों को भूखे मरने की मजबूरी है।' अजीब बात है कि 'प्रजातंत्र' की चकाचोंध से प्रभावित होकर सायराबाई ने क्या पाया, क्या खोया इसकी कोई बहसय हमारे समाज में नहीं हो रही, हिन्दुस्तान के समस्त प्रबुध वर्ग में से इक्का-दुक्का व्यक्तित्व को छोड़कर वर्तमान भारत की गुलाम मानसिकता को उसके संपूर्ण परिप्रेक्ष्य में समझने का कोई समग्र प्रयास दिखायी नहीं पड़ता। गुलाम मानस पर विचार-विमर्श और बहस की अनुपस्थिति का सीधा रिश्ता सूखे, अकाल और भूखमरी की परिस्थिति से है। हमारे आलेख का मूल मुद्दा इस संबंध के अंतरसंबंधों को उनके सूक्ष्म रूप में देखने-समझने का है। सायराबाई ने जो तथ्य वर्तमान राजनीतिक-सामाजिक परिस्थिति के संदर्भ में हमें उपलब्ध कराये हैं, वह असाधारण दिखायी पड़ते हैं। क्योंकि जिस प्रबुद्ध वर्ग को यह सब देखना चाहिए और इनकी अभिव्यक्ति करनी चाहिए वह पूर्णतया निखटू और बेशर्म है। जिस अनोखे 'अधर्म और अन्याय' की बात सायराबाई ने उठायी है वह प्रजातंत्र का दिया है, लेकिन इसी भारतीय राष्ट्रवाद और प्रजातंत्र के तहत सायराबाई ने जो सम्मान, सामाजिक बराबरी की हैसियत से पाया है और जिस संपूर्ण बराबरी की ललक उसके मन में जग गयी है वह भी प्रजातंत्र की देन है। आधुनिक राष्ट्रवाद और प्रजातंत्र के अंतरविरोधों को समझना और उनका निराकरण ढूंढना ही हमारे इस लेख का मूल उद्देश्य है। इस दुविधा को पहचानना और इससे उबरने का प्रयास ही हमें हिन्दुस्तानी बना सकता है।

5. संस्कृति और जीवन विज्ञान

पांचवी आधार वार्ता कच्छ क्षेत्र के छछला ग्राम के निवासी मालधारी कासिम खां की है। 1988 में सूखा सर्वेक्षण के दौरान मालधारी (गाय-भैंस पालने वाले मुसलमान कौम) गांव छछला में 3 दिन तक रहने का अवसर मिला। दो महिला सर्वेक्षक साथ थीं ताकि महिलाओं से घर की परिस्थिति पर विचार-विमर्श किया जा सके। प्रश्नोत्तरी के माध्यम से तरह-तरह के सवाल हम जनता से पूछ रहे थे। जैसे, घर में कितना दूध बचाया जाता है? उसका क्या उपयोग होता है? दही छाछ बनाते हैं या नहीं? छछला

में एक मोची परिवार का साक्षात्कार मैंने स्वयं किया था। उस साक्षात्कार के अगले दिन गांव के एक बुजुर्ग ने मुझे अपने पास बुलाया और पूछा— 'बाबू तू गांव में क्या कागद काले कर रहा है?' मैंने सहज भाव से समझाने का प्रयास किया कि अकाल से जो हालात बन गये हैं और आम जनता इस दुष्काल की परिस्थिति में कैसे जीवन—यापन कर रही है हम उन तथ्यों का आंकलन करने का प्रयास कर रहे हैं।

बुजुर्गवार का नाम कासिम खां था और उम्र 75 वर्ष के ऊपर। कासिम खां गुजराती आवरण की उर्दू में बातचीत करते हैं उनका दूसरा सवाल था कि इस तरह के सर्वे से क्या फायदा होगा। मैंने उन्हें फिर से यह समझाने का प्रयास किया कि समस्या की सही समझ उसके निराकरण के लिए अनिवार्य होती है? कासिम खां ने फिर सवाल किया कि यह सर्वे कौन करवा रहा है, और मेरे और छोकरियों के वास्ते गांव में पिकनिक मनाने का खर्चा कौन देता है? मैंने उन्हें सेटर फॉर सोशल स्टडीज, सूरत का हवाला दिया। उनका फिर सवाल था कि इन संस्थाओं के पास पैसा कहां से आता है? मैंने उत्तर दिया कि पैसा तो सरकार से ही आता है अब तक कासिम खा की तयोरियां चढ़ चुकी थीं उन्होंने गुस्से से कांपते हुए कहा कि सरकार बिल्कुल अंधी है। उसे हालात की जानकारी नहीं है जो तुम्हें और इन छोकरियों को गांव में सैर मनाने भेजा है? कासिम गुस्से में निरंतर बोल रहे थे। झिड़कते हुए मेरी ओर मुखातिब होकर पूछा— 'तुम शहरी बाबू इतना नहीं जानते कि गांव में जितना दूध पैदा होता है वह सारा शहर चला जाता है। काल हो या बेकाल मालधारियों के पास तो सिर्फ नकद पैसा रह जाता है। जब तक दूध का व्यापार नहीं शुरू हुआ था तब तक हमारे कुत्तों को भी दूध और छाछ मिलता था। मोची और घर की औरतों से क्या पूछता है। तुझको दिखाई नहीं देता। शाम—सवेरे डेरी की गाड़ी आती है बूंद—बूंद दूध ले जाती है। जब तक घी बेचते थे तब तक हमारे घर में दूध भी था और छाछ भी थी। तुम शहरी बाबू न कुदरत (कासिम खां ने यह स्पष्ट किया कि कुदरत माने खुदा) की बात समझते हो न किताब की बात जानते हो, और न आंख से देखकर सीख सकते हो। फिर यहां आकर क्यों हमारा समय बर्बाद करते हो? सरकार क्यों संस्थाओं को पैसा बर्बाद करने के लिए देती है?' मैंने बीच में टोकने का प्रयास किया तो कासिम खां का गुस्सा और तेज हो गया। वह बोले— 'बाबू बात सुन और समझ, बीच में टोक मत। तुझे मालूम है, कुदरत का हुकुम था कि दूध नहीं बेचना, दूध बेचना पूत बेचने के बराबर गुनाह था। खुदा का कानून इसलिए बना था कि सब कोई अपने घर में गाय पालेंगे, जानवर की सेवा करेंगे, घर के बच्चे, बूढ़े, औरत सभी को दूध और छाछ मिलेगा। घर पर घी बनाकर बेचने से गुजारे में मदद भी हो जायेगी। खुदा का कानून किसने तोड़ा? सरकार ने इस कानून को तुड़वाया, शहरी बाबू तुम्हारे वास्ते ही तुड़वाया। यह जो अधर्म बढ़ गया इसी से अकाल पड़ता है। पुराने वक्त में कच्छ के बनी क्षेत्र में कम बारिश होने पर भी बहुत चारा होता था। कच्छ में पानी

की कमी तो होती थी किंतु चारे का कभी अभाव नहीं होता था।' बाबू यह सर्वे का काम बंद कर, इससे गांव में बदअमनी फैलती है – अपनी छोकरियों को यहां से लेकर जा।'

कासिम खां जो डांट लगायी और संस्कृति से जीवन के सरोकार पर जो प्रकाश डाला वह अद्भुत है। जीवन की सुरक्षा भौतिक संसाधनों के विकास से नहीं होती उसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण सम्बल या आधार संस्कृति में होता है। मालधारियों के गांव में दूध तो पहले भी पैदा होता था और आज भी होता है। जब तक परंपरागत संस्कृति की मान्यता थी तब तक मालधारियों के बच्चे और औरत कुपोषण के शिकार नहीं थे। समाज और जीवन की सुरक्षा के लिए संस्कृति की मान्यता थी तब तक मालधारियों के बच्चे और औरत कुपोषण के शिकार नहीं थे। समाज और जीवन की सुरक्षा के लिए संस्कृति सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्रोत है। वर्तमान आधुनिकता के चलते यह तथ्य सिरों से भुला दिया गया है परंपरा और मानव अस्तित्व के रिश्ते काफी पेचीदा हैं। जब भी किसी व्यक्ति, व्यक्ति समूह या समाज को अस्तित्व का खतरा महसूस होने लगता है तो वह यथाशीघ्र परंपरा/संस्कृति या लोक-विश्वास के तिनके को पकड़ लेता है, उसी क्षण परंपरा रूढ़ि में परिवर्तित हो जाती है। परंपरा संस्कृति का अनिवार्य एवं निरंतर विकास बंद हो जाता है।

संस्कृति और सभ्यता के विकासक्रम और पराभव का इतिहास सर्वदा परंपरा और अस्तित्व की आंतरिक प्रक्रिया से जुड़ा रहता है। सामाजिक परंपरायें सिर्फ भोजन, भवन, भूषा, भाषा, जीवन-मरण के अवसरों तक ही सीमित नहीं होती, इनका सीधा संबंध देश और समाज की मूलभूत संरचना से जुड़ा होता है। किसी भी देश और समाज की मेधा एवं अस्मिता उसकी सार्वजनिक परंपराओं में निहित होती है। कासिम खां ने एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य की ओर इशारा किया था – उनकी स्मृति के अनुसार 1955-60 तक कच्छ की बनी (छोटा वन/जंगल) में पानी का अभाव तो अक्सर हो जाता था, किंतु चारे का अभाव कभी नहीं होता था। कासिम खां की डांट के बाद अगले दिन छछला से रवाना होने के पूर्व मैं कासिम खां से विदा लेने गया तो उनका गुस्सा शांत हो चुका था और बहुत स्नेह से कासिम खां ने मुझे अपना अध्ययन पूरा कर लेने के लिए आग्रह किया। मैंने उन्हें आश्चर्य किया कि हम काम पूरा करने के बाद ही गांव से जा रहे हैं। लेकिन जाने से पहले मैं यह जरूर समझना चाहता हूँ कि कच्छ की बनी में यकायक चारे की कमी क्यों हो गयी? कासिम खां की समझ से इसके दो कारण थे— पहला कारण तो विलायती बबूल का विस्तार था। जहां यह गाछ फैल जाता है वहां कुदरत अपना बाकी काम बंद कर देती है। मालूम नहीं सरकार ने इस गाछ को क्यों पनपाया है? दूसरा कारण बरसात में बहुत सारा पानी बहकर बड़ी रन में चला जाता था जिससे जमीन की नमी भी बनी रहती थी और खारपन भी बहुत नहीं बढ़ता था। अब सरकार ने सभी ढलानों पर बंधे बना दिये हैं। तीन-चार साल

में जो बरसात होती है उसका पानी भी वहां रोक लेते हैं। बनी की जमीन इतनी खारी हो गयी है कि इसमें चारे की घास उग ही नहीं सकती। और कुइयों में पानी भी पूरा नहीं आता।

जिला मुख्यालय भुज में जंगलात के अफसरों ने इस तथ्य की पुष्टि की कि उस क्षेत्र में जल-विकास के कार्यक्रम और भूमि संरक्षण की योजनाओं की क्रियान्विति से बनी क्षेत्र में सूखे और खारापन की समस्या ने विकराल रूप धारण कर लिया है। एक वन्य-जीव प्रेमी अफसर का कहना था कि रण में बसने वाले फ्लेमिंगो पक्षियों का तो घर ही उजड़ गया। रण का खारपन निर्धारित सीमा से बहुत अधिक हो गया, जिसके परिणामस्वरूप पक्षियों के लिए जलीय भोजन की मात्रा इतनी कम रह गयी कि फ्लेमिंगो को अपना घर छोड़ने पर मजबूर होना पड़ा। संस्कृति और जीव-विज्ञान का रिश्ता पेचीदा तो है, लेकिन समझ से बिल्कुल परे नहीं।

6. बारिस और अकाल

इस संदर्भ का एक और अनुभव है। 1987 में मारवाड़ में विकराल सूखा था। लेकिन सोलंकिया तला के केरली नाड़ी क्षेत्र में तीन-चार अच्छी बरसात हुयी थी। घरेलू टांको में भरपूर पानी था। स्थानीय किसानों के अनुभव के अनुसार चारे और अन्न की फसल बिगड़नी नहीं चाहिए थी। आश्चर्य जनक परिस्थिति तो यह भी थी कि घरेलू टांकों में तो पानी भरा था किंतु सार्वजनिक नाड़ी तालाबों में वर्षा के अनुपात से बहुत कम पानी था। ग्रामीण किसानों के लिए यह जरा अबूझ पहेली जैसी समस्या थी। लेकिन जब उनके साथ मिलकर संपूर्ण परिस्थिति को समझने का प्रयास किया गया तो समस्या के कारणों को समझने में विशेष कठिनाई नहीं हुयी। बारिश थोड़े से इलाके में ही हुयी थी इसलिए क्षेत्र में चलने वाली व्यापक आंधियों के प्रकोप में कोई अंतर आया था। नवअंकुरित घास और फसल उस आंधी में पनप नहीं सकती थी। अब सवाल था कि ऐसी आंधियां क्यों चलती है। जमीन के उपयोग का तौर-तरीका बदल गया है। पुराने वक्तों में कुल जोत लायक भूमि का दशांश जोता जाता था। समस्त भूमि पर गाय का अधिकार समझा जाता था। अब समस्त भूमि पर ट्रैक्टर का हल/तवी आदि चल जाते हैं। अच्छी बरसात से उपजाऊ मिट्टी (बालूई) जम जाय तो ठीक वरना ढीली मिट्टी को आंधी में उड़ाना आसान हो जाता है। जब तक अधिकांश भूमि चरागाह की तरह इस्तेमाल होती थी उस पर घास जमी रहती थी – जमीन का उपयोग बदल जाने से उसकी प्रकृति और प्रवृत्ति में भी अंतर पड़ गया। गांव का किसान यह सब सोचने और समझने में सक्षम है। लेकिन बदले हुए परिवेश में वह समस्त जोत काबिल और गैर मुमकिन जमीन पर भी ट्रैक्टर द्वारा बुआई कराता है। इसी प्रकार के अनेक कारणों से सार्वजनिक नाड़ी तालाबों के आगोर-पाछोर (जल संचयन क्षेत्र) की दशा इस कदर बिगड़ गयी है कि उस क्षेत्र में हुयी बारिश का पूरा पानी तालाब तक नहीं पहुंचता – ढीली, नंगी जमीन आधा से ज्यादा पानी सोख लेती है। बाकी पानी का बहाव ही नहीं बन पाता। घरेलू टांको

में तो भरपूर पानी भर जाता है क्योंकि उन टांकों के आगौर की देख-रेख निजी स्तर पर बनी रहती है। लेकिन सार्वजनिक नाड़ी के आगौर की साज-संभार कौन करे? संस्कृति में होने वाले परिवर्तन का सीधा रिश्ता जीवन के अस्तित्व से होता है। — यह बात समाज को सामुदायिक तौर पर सीखनी पड़ती है। समाज में जब आंतरिक ऊर्जा होती है तो समाज यह सामर्थ्य जुटा लेता है कि धरती की नमी-धारण शक्ति कैसे सुरक्षित रहेगी — किंतु जब आंतरिक ऊर्जा क्षीण हो जाती है तो समाज में यह सामर्थ्य भी नहीं रहती कि वह यह समझ सके कि धरती माता की नमी-धारण शक्ति क्यों क्षीण हो गयी है। हिन्दू समाज का इतिहास चक्र आज उस धुरी पर स्थित है जहां उसमें आंतरिक ऊर्जा के लिए सहज हरकत की संभावना भी नगण्य ही है।

जमीन की नमी-धारण शक्ति का सीधा रिश्ता बड़े पैमाने पर रोजगार से है। और इस नमी-धारण सामर्थ्य का रिश्ता गोपलन की संस्कृति से है। पिछले 200-300 वर्षों में गोपालक समाज कृषि प्रधान देश में परिवर्तित हो गये और हमारे शास्त्रियों को आज तक इस परिवर्तन की कोई भनक ही नहीं लगी। पिछले सौ वर्षों में चारागाह और जंगल के स्वरूप और संरचना में आमूलचूल परिवर्तन हो गया लेकिन हम तो 'हिन्दू राष्ट्र' बनने में इतने बेखबर हो गये कि हमें निरंतर बढ़ रही बेकारी, भूखमरी की कोई खबर ही ना हुयी। जहां जंगल सुरक्षित है वहां सूखा पड़े या बाढ़ आये, लोग भूखे नहीं मरते। संस्कृति में परिवर्तन की बात तो दीगर है हमारा तो संस्कृति/परंपरा को देखने-समझने का नजरिया ही बदल गया — 200 वर्षों की गुलामी से जो मोतियाबिंद हमारी नजर को हो गया है उसकी चीर फाड़ आजादी के 50 वर्ष बाद भी नहीं हुयी है। 1975 से 1980 के बीच लगभग 10 लाख फ्लेमिंगो कच्छ की रन से बेघर हो गये लेकिन हमें आज तक यह पता नहीं कि यह शरणार्थी अन्यत्र बस गये हैं या नष्ट हो गये हैं? कच्छ की रण से फ्लेमिंगों उजड़ गया तो भारतीय समाज शास्त्रियों को इस तथ्य से क्या लेना देना है। वह तो जब कच्छ के अकाल का अध्ययन करने जाते है तो वहां की जनता (कासिम खा और उनकी बहन-बेटियों) के निरक्षर होने की परिस्थिति से दुःखी होकर लौटते है। यदि कासिम खा साक्षर होते तो फ्लेमिंगों की तरह उनके भी पंख लग जाते और वह भी अकाल की परिस्थिति में कच्छ की बली से अन्यत्र कहीं जाकर अपनी भैंसों और परिवार का पालन-पोषण कर लेते। (पाठक इसे तंज़न न समझे और उन समाजशास्त्रियों की रपट देख लें जिन्होंने 1980 के दशक में कच्छ के अकाल का अध्ययन किया है।)

7. सांस्कृतिक व्योम और गैर बराबरी

सातवीं आधार वार्ता उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिले मुजफ्फरनगर में प्रसिद्ध गुडमंडी शामली के एक निकटवर्ती गांव के चौधरी मनफूल सिंह की वार्ता है। चौधरी मनफूल सिंह गांव में मास्ट साहब के उपनाम से विश्यात हैं। जाति से जाट मास्टर साहब ने हिन्दी, संस्कृत और राजनीति शास्त्र में अलग-अलग

एम.ए. पास किया है और वह राजकीय महाविद्यालय में हिन्दी के लेक्चरर हैं। गांव के सर्वाधिक समृद्ध किसान हैं। गंगा-यमुना के दो आबे [दो नदियों के बीच का सजल (आबदार) क्षेत्र] में उनका परिवार 300 बीघा से अधिक जमीन पर सिंचाई की खेती करता है। परिवार में दो ट्रैक्टर हैं, 3-4 मोटर साईकिल और एक दर्जन से अधिक दुधारू पशु हैं। परिवार हर दृष्टि से 'प्रगतिशील', महिला शिक्षा और विकास में विश्वास रखने वाला, आधुनिक कृषि के प्रयोगों को क्रियान्वित करने वाला और सभी तरह से गांव में अग्रणी बन कर सभी किसानों को नेतृत्व प्रदान करने वाला है। पिछले 10 वर्षों में मास्टर साहब विश्व हिन्दू परिषद के कर्मठ कार्यकर्ता बन गये हैं। 'पांचजन्य' पत्रिका के ग्राहक है, और उसका नियमित स्वाध्याय भी करते हैं मौलिक विचारों से लैस, मास्टर साहब अनुभवी और रोचक व्यक्तित्व के स्वामी हैं।

दिसम्बर 1991 में एक लंबी वार्ता के दौरान उन्होंने स्पष्ट किया कि बनियां, ब्राह्मण जातियों से जो सर्वाधिक नुकसान समाज को पहुंचा है वह ऊंची जातियों द्वारा आयोजित सांस्कृतिक गैर बराबरी अनाचार से हुआ है। मास्टर साहब के विचार में आर्थिक शोषण की साजिश उतनी गंभीर और नुकसान पहुंचाने वाली नहीं थी जितनी कि धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक गैरबराबरी की थी। चौ.सा. के मतानुसार राजनीतिक-आर्थिक समता हासिल करना उतना दुःसाध्य नहीं जितना कि सांस्कृतिक बराबरी को पाना है। मास्टर साहब के अनुसार शास्त्रोचित आध्यात्मिक जीवन स्तर की बात तो बहुत दूर की है, साधारण रोजमर्रा के भौतिक जीवन में भी सांस्कृतिक गैरबराबरी के चलते जो अंतर पड़ गये हैं वह असाधारण हैं।

खान, पान, पहनावा, भूषा, भाषा, और भवन सभी का उपभोग स्तर संस्कृति से ताल्लुक रखता है सांस्कृतिक गैर बराबरी के परिणाम स्वरूप भौतिक जीवन स्तर में जो अंतर पड़ गया है उसके मास्टर साहब ने अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये। एक उदाहरण शराब के प्रयोग का था- 'बनिये-बामन के बच्चे शराब पीकर आनन्द मनाते हैं, गपशप करते हैं, संगीत सुनते हैं या पुराने वक्तों में कोठों पर नाच-गाना देखते-सुनते थे। लेकिन इसके विपरीत 'किसानों' के बच्चे शराब पीकर आपस में लड़ते हैं, घर में औरतों के साथ गाली गलोच करते हैं, गांव में उधम हल्ला होता है या सड़कों पर लूट खसोट करते हैं। यह इलाका डाकू-लूटेरों का इलाका नहीं है, लेकिन शाम होते ही उत्तर प्रदेश के छोटे राजमार्ग असुरक्षित हो जाते हैं - इस तथ्य पर विचार ही नहीं होता।

मास्टर साहब का एक और उदाहरण भोजन के संबंध में था कि दूध तो किसान के घर बहुत अधिक होता है किंतु दूध के जो व्यंजन बनिये के घर तैयार किये जाते हैं - जैसे केसर इलायची और मेवों से परिपूर्ण गाजर का हलवा, घर के बने दूध के जवें, नये चलन का श्रीखंड आदि - उस सबकी खुशबू और बात ही किसान के घर तक पहुंची है, व्यंजन का सहज निर्माण और उपभोग नहीं। हरा धनिया

तो किसान के खेत में ही होता है लेकिन जीरे और अनारदाने के साथ उसकी महीन चटनी तो उन्हीं परिवारों में पिसती है जिनका हजारों वर्षों से धर्म—संस्कृति पर कब्जा है। मास्टर साहब का कहना है कि धार्मिक सांस्कृतिक असमानता से जो कुंठा समाज में पनपी है उसके अनेक दीर्घगामी परिणामों पर हिन्दुस्तानी बुद्धिजीवियों ने कभी निरपेक्ष भाव से विचार ही नहीं किया।

चौधरी साहब के मतानुसार पश्चिमी उत्तर प्रदेश की अहीर, जाट, गूजर और राजपुत जातियों में जो धर्म परिवर्तन सोलहवीं से उन्नीसवीं सदी के दौरान निरंतर चलता रहा वह बाबर या औरंगजेब की तलवार के जोर से नहीं हुआ। इस्लाम में धर्म परिवर्तन की प्रेरणा हिन्दू समाज में प्रचलित धार्मिक, सांस्कृतिक गैर बराबरी से मिलती थी। चौधरी साहब का कहना है कि यदि औरंगजेब की तलवार के जोर से ही धर्म परिवर्तन हुआ होता तो बनिये—बामनों की कौम सबसे पहले मुसलमान बनती और सांस्कृतिक बराबरी और पहचान का जो झगड़ा आज हिन्दुस्तान में चल रहा है उसकी जड़ ही समाप्त हो जाती। मास्टर साहब के विचार में बनिये—बामन की जात अहीर, जाट, गूजर और रांगड (अजगर) की जात से बहादूर नहीं जो औरंगजेब की तलवार के सामने सबसे पहले न झुकती। इसके विपरीत अजगर जातियां ऐसी कायर कौम नहीं जो सहज ही तलवार के जोर पर अपना धर्म छोड़कर इस्लाम कबूल कर लेती। 'अजगर' मुसलमानों में समृद्धि के लक्षण भी दिखाई नहीं पड़ते कि उन्होंने किसी लालच में आकर धर्म परिवर्तन किया हो।

मास्टर साहब पिछले 10 वर्षों में शनैः शनैः विश्व हिन्दू परिषद और भारतीय जनता पार्टी के सक्रिय कार्यकर्ता बने हैं। अब मास्टर साहब थोड़ा आश्वस्त हैं कि सांस्कृतिक गैर बराबरी के विरुद्ध जो लड़ाई न तो इस्लाम लड़ सका और न ही आर्य समाज, और चौधरी चरण सिंह के नेतृत्व के बावजूद आधी—अधूरी रह गयी वह अंततः विश्व हिन्दू परिषद के नेतृत्व में लड़ी जा सकेगी। 'जैसा कि अयोध्या में मस्जिद तोड़ो आंदोलन के दौरान हो भी रहा है अलबत्ता मास्टर साहब को यह भी थोड़ा—थोड़ा अंदाज है कि विश्व हिन्दू परिषद भी शहरी बनिया—बामन अभिजात्य वर्ग का संगठन है, और शहरी भद्रजन तबका, जिसका प्रशासन और संसाधनों पर भी कब्जा है, ग्रामीण किसान के हितों की अवहेलना करने का आदी है। मास्टर मनफल सिंह इस संदर्भ में परिषद के शीर्ष नेताओं से लिखित शिकायत भी करते रहते हैं। लेकिन उनकी यह उम्मीद भी कायम है कि विश्व हिन्दू परिषद शीघ्र ही उनके गांव में ऐसे संत परिव्राजक की नियुक्ति कर देगी जो पूर्णतया सदाचारी और शीलवान होगा। विश्व हिन्दू परिषद के नेतृत्व में सिर्फ अयोध्या में ही राम मंदिर का निर्माण नहीं होगा, बल्कि गांव के मंदिरों, शिवालयों का भी पुनरुद्धार होगा। विश्व हिन्दू परिषद के परिव्राजक संत आर्यसमाजी मिशनरियों की तरह गांव—गांव में किसानों की महिलाओं और बच्चों में धर्म—शिक्षा और उन्नत संस्कृति का प्रसार—प्रचार करेंगे ताकि वह भी धर्म के अनुरूप आचरण करना सीख सकें।

आधुनिकता की ललक और नवीनतम भौतिक विकास में हिस्सेदारी की तीव्र इच्छा से धर्म संस्कृति की मांग या उसमें बराबरी की चाहना का बहुत तेजी से विस्तार हुआ है, पिछले 200 वर्ष में इस प्रक्रिया के तहत धर्म संस्कृति और परंपराओं में नवीनीकरण की जो भी गुंजाइश बनी वह समूची टोडी हिन्दुत्व ने घेरी है। (आजादी की लड़ाई के दौरान 'टोडी बच्चा, हाय-हाय' का मुहावरा काफी प्रचलित था — उन दिनों इस मुहावरे का सहज अर्थ 'अंग्रेजों का पिट्टू' था। मूलतः 'टोडी' का अर्थ हीनता से उपजा मेंढक जैसा बौनापन और नकलची तौर पर उछाल लगा कर लंबा या ऊंचा दिखने की प्रवृत्ति।) भारतीय संदर्भ में इसका वस्तुनिष्ठ संदर्भ इस्लाम और ईसाईयत जैसा शौर्यवान बनने की प्रबल उत्कंठा और प्रवृत्ति से है। यही प्रवृत्ति आधुनिकता के संदर्भ में है। टोडी हिन्दुत्व की प्रवृत्ति के अनेक स्वरूपों की अभिव्यक्ति पिछले 150—200 वर्षों में देखने में आयी है। बंगाली 'पुनरूत्थान' के दौरान सार्वजनिक दुर्गा पूजा और काली पूजा का प्रचलन इस टोडी प्रवृत्ति की सर्वाधिक महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति थी। तिलक द्वारा प्रचलित सार्वजनिक गणेश पूजा भी इसी प्रवृत्ति का दूसरा स्वरूप है उत्तर भारत की रामलीला जो अपने उद्भव में तो स्वतंत्र रूप से 16वीं 17वीं सदी में शुरू हो गयी थी किंतु उसका 19वीं—20वीं सदी का भौंडा एवं वृहद प्रसार 'टोडी मानसिकता का ही लक्षण है।

इस्लाम और ईसाईयत का जो शौर्यवान एकीकृत संगठित स्वरूप हम मानते हैं या महसूस करते हैं उसके जैसा बनने की प्रबल उत्कंठा हमारी सार्वजनिक प्रवृत्ति बन गयी है। यही प्रवृत्ति आधुनिकता के संदर्भ में निजी स्तर पर है। आधुनिकता के संदर्भ में भी वास्तविक मूल्यों से भारतीय भद्रलोक का कुछ लेना देना नहीं है। निजी स्तर पर पाश्चात्य की नकल मूलतः भौतिकवादी जीवन स्तर तक सीमित है। अनुदार प्रवृत्ति या मानवीय सामाजिक संरचना से उनका कोई लेना-देना नहीं है। आधुनिक श्रम की नैतिकता से भी उसका कोई सरोकार नहीं है। लेकिन पाश्चात्यकरण या आधुनिकीकरण का सपना निजी एवं सामूहिक स्तर पर धूमिल होता है तो असफलता का एहसास तीव्रतर हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप हीनता की ग्रंथि और अधिक ऐंठ जाती है। यह प्रक्रिया निजी एवं सामूहिक स्तर पर सामान्य रूप से सामान्तर स्तर पर चलती रही है। इस प्रक्रिया के चलते असुरक्षा की मानसिकता प्रबल बनती रहती है। इसी के साथ एक प्रक्रिया और चलती है कि एक तरफ तो पाश्चात्य (वास्तव में एंग्लोफिल) जैसा हो जाने की ललक, दूसरी तरफ यह घबराहट भी, कि पूर्णआधुनिक हो जाने पर सांस्कृतिक पहचान ही खत्म हो गयी तो अस्तित्व भी रहेगा या नहीं। यहीं वह उहापोह है जिसमें 'खालिस्तानी' किस्म की विभिन्न मानसिकताएं, जैसे 'शिवसेना', 'बजरंगदल', 'विश्व हिन्दू परिषद', 'द्रविड़ राष्ट्रीयता' 'तबलीगी जेहाद', बाबरी मस्जिद संघर्ष समिति आदि पनपते हुए एक दूसरे को औचित्य और सम्बल प्रदान करती हैं। आधुनिकता के दबाव से जो भी सांस्कृतिक व्योम उपजता है उसे हमारी टोडी मानसिकता घेर लेती है, क्योंकि समाज में ऐसी ऊर्जा शेष नहीं जो औपनिवेशिक मानस के खिलाफ डट कर लड़ सके

— यह लड़ाई साधारण नहीं, इसी सदी के पहले 25 वर्षों में गुरुदेव और गांधी इस संग्राम को हार चुके हैं। लेकिन उनकी प्राथमिकता अंग्रेजों की प्रत्यक्ष उपस्थिति को समाप्त करने की थी। और ऐसी चेतना की तो कभी नींव ही नहीं रखी गयी जिसके आधार पर ऐसी संस्कृति का वो ढांचा खड़ा किया जा सकता। जिसमें समाज की मानसिकता और उत्पादक धंधों को इतना 'आधुनिक' बनाया जा सकता कि हम पाश्चात्य के मुकाबले में पिछड़ेपन की विडम्बना से मुक्त हो जाते ह। बस टोडी मानस की उहापोह में फंसे हिन्दू के सामने — 1. कंगाली—व्यापक भूखमरी, 2. अज्ञान का अंधकार, 3. व्यापक गंदगी और प्रदूषण, 4. स्वदेश संसाधनों की अंतर्राष्ट्रीय लूट और 5. वैमनस्यपूर्ण सांप्रदायिकता की विराल समस्याएं मुंह बाए खड़ी हैं — वह न टोडी मानसिकता से मुक्त हो सकता है न आधुनिकता को अपना सकता और न ही परंपरा की स्मृति को धो—पोछ कर उज्ज्वल बना सकता है। इस त्रिशंकु मानसिकता से पीड़ित 'हिन्दू' न तो आधुनिक बन पाया और न ही वैदिक हो पाया।

8. सूखा, अकाल, पानी और कंगाली

सूखा, अकाल, पानी और कंगाली के संदर्भ में आठवीं किंतु इस आलेख के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण आधार वार्ता सोलंकिया तला के पूना राम भोपा के साथ हुयी बातचीत पर आधारित है। पूनाराम अनपढ़ ग्रामीण है जो अपने को स्थनीय लोक देवता पाबू का भोपा यानि पूजारी मानते हैं। 1984 में प्रसिद्ध इतिहासविद् आचार्य सुधीर चन्द्र और साहित्यकार गीतांजलीश्री एक प्राथमिक सर्वेक्षण के दौरान मेरी मदद के लिए सोलंकिया तला पधारे थे। उस दौरे में गांव के अनेक ग्रामवासियों के साथ जीवन, समाज, राजनीतिज्ञ, विकास आदि विषयों पर चर्चा होती रहती थी। एक शाम पूनाराम भगत से जनजीवन से लेकर भगत—भोपा आदि के आचरण तक पर चर्चा हो रही थी। अचानक ही आचार्य सुधीर चन्द्र ने पूनाराम जी से सवाल कर दिया कि भगवान क्या है? सवाल सुन कर पूनाराम जी मौन और निर्विकार हो गये और मैं अवाक् रह गया — मन ही मन अपने को कोसने लगा कि इन पढ़े—लिखे लोगों को मैं गांव क्यों ले आता हूं? लेकिन पूनाराम जी ने चन्द्र क्षणों में ही अपना मौन तोड़ कर स्पष्ट घोषणा कर दी कि मिट्टी (पृथ्वी), पानी और वनस्पति ही ईश्वर के तात्विक एवं मूर्त स्वरूप हैं। विश्लेषण की लौकिकता में ऐसी दार्शनिकता का पुट था कि आचार्य सुधीर चन्द्र को पूनाराम जी दूसरा सवाल नहीं करना पड़ा। पूनाराम जी ने कहा कि "मिट्टी कभी गंदी नहीं होती, कभी अपवित्र नहीं होती, हम उसे प्रतिदिन प्रतिक्षण दूषित करते हैं, किंतु वह हर गंदगी को अपने जैसा, बिल्कुल अपने अनुरूप बनाने में लीन रहती और बना लेती है और शुद्ध होकर हमें प्राप्त होती रहती है। जिस इंसान में यह गुण आ जाय कि वह हर विष और प्रदूषण को अपने में आत्मसात कर अपने जैसा निर्मल बना ले और स्वयं निर्मल बना रहे वहीं ईश्वर है।" ठीक यही स्वरूप पानी का है। हम निरंतर जल को दूषित करते रहते हैं लेकिन पानी स्वतः निर्मल होने और अन्य दूषित को निर्मल बनाने की प्रक्रिया में नित लीन

है – इस नित निर्माल्य प्रवृत्ति का नाम ही ईश्वर है। खेजड़ी के पे में हम पत्थर मारते हैं तो उत्तर में वृक्ष से हमें फल और पत्ते प्राप्त होते हैं। वृक्ष लौट कर पत्थर नहीं मारता, गाली नहीं देता पेड़ पर हम ईंधन और चारे के लिए कुल्हाड़ी चलाते हैं तो पेड़ क्षुब्ध होकर उगना या प्रस्फुटित होना बंद नहीं कर देता। पूनाराम जी का कहना था कि जो भी जल की तरह गतिशील हो जाता है और स्वतः निर्मलीकरण की प्रकृति प्राप्त कर लेता है वहीं भगवान के सदृश हो जाता है। मिट्टी, पानी और वनस्पति की सहज प्रवृत्ति ही ईश्वर का पर्याय है।

(पूनाराम जी से दस वर्ष पूर्व हुयी मिट्टी-पानी के संदर्भ में यह संक्षिप्त चर्चा धीरे-धीरे विकसित होकर इस लेख के रूप में प्रकट हुयी है। अपने से अतिरिक्त 6 कथाओं को यह 7वीं कथा ही सूत्रबद्ध करती है।)

इन आठ वार्ताओं को अनेक स्वरूपों में पढ़कर अनेक अर्थ निकाले जा सकते हैं। यह अर्थ विभिन्न संदर्भों में रोचक, मार्मिक अथवा नितांत तात्त्विक हो सकते हैं। इस लेख के संदर्भ में पानी, धर्म और राजनीति का जो संयुक्त विश्लेषण विकसित करने का हम प्रयास कर रहे हैं उसमें इन कथाओं की भूमिका निरंतर उद्धृत होती रहेगी। क्योंकि हमारे लेख का प्राथमिक आधार इन कथाओं के विभिन्न तथ्यों में ही निहित है। लोक विज्ञान से उपजी यह कथाएं इस आलेख का आधार तत्त्व भी हैं और तर्क-कुतर्क को पहचानने की कसौटी भी। यदि हमारा विश्लेषण और चर्चा इस लोक विज्ञान की कसौटी पर खरा नहीं तो उसका कोई अर्थ नहीं, उसका कोई महत्व नहीं। जो सामाजिक विज्ञान लोक विज्ञान की आंतरिक तर्क संरचना में समाहित नहीं वह निरर्थक है। राष्ट्र निर्माण के लिए लोकमत से जुड़ना अनिवार्य है लोकमत से संबंध लोक-विज्ञान से ही जुड़ सकता है। लोकमत से अन्यथा राष्ट्र निर्माण का मार्ग नहीं – इसी मान्यता को विकसित करने के प्रयास में इस लेख की प्रक्रिया निहित है।

ॐ

जल ही जीवन है

हिन्दू शास्त्रीय मान्यता के अनुसार आदि पितृ यानि जीवन का मूल स्रोत तो सूर्य हैं किंतु जीवित और अजीवित तत्त्व का मूल अंतर जल का प्रधानत्व है जो पदार्थ जल प्रधान है वही जीवित तत्त्व है। स्थूल रूप में यह स्वतः स्पष्ट है कि जीव, जीवाणु और अन्य पदार्थों का फर्क जल की प्रधानता से ही निर्मित होता है। जीवित तत्त्व अथवा जीव द्रव्य का निर्माण उसी क्षण प्रारंभ होता है जब सूर्य, वायु, पृथ्वी और आकाश – जल में निजी आहूति करते हैं।

प्राणी मात्र में चार हिस्सा जल और शेष पांचवा हिस्सा अन्य सभी तत्त्वों का होता है। जीव विज्ञान के अनुसार प्राणी मात्र में 78 प्रतिशत पानी होता है – उसमें एक प्रतिशत भी घटे तो जीवन के लिए संकट खड़ा हो जाता है पानी चैतन्य का भी प्रतीक है। मनुष्य शरीर के जिन अवयवों में जल नहीं

होता, जैसे लोम, केश, नाखून आदि निर्जीव तत्त्व हैं, इन्हें काटने से किसी पीड़ा का अनुभव नहीं होता। इसी वैज्ञानिक तथ्य के आधार पर सामाजिक संदर्भ में कमजोर, कायर, अनैतिक इंसान के लिए 'बेआबरू', यानि जिसका पानी उतर गया हो, का मुहावरा विकसित हुआ।

बेआबरू समाज

आज हमारा देश बेआबरू होकर विश्व के बाजार में एक नंगी रंडी की तरह नाच रहा है और समस्त दुनियां को आमंत्रित कर रहा है कि यदि कोई आवरण शेष हो तो वह भी उतार लो। वर्तमान हिन्दुस्तान का उच्च मध्यम वर्ग पश्चिम की उतरन पहनकर अपने को धन्य मानता है और गर्व से इठलाता है। इस हीनता से ग्रसित मानस को ही गर्वोक्ति की भाषा का प्रयोग करना पड़ता है और दीवारों पर इश्टिहार छापकर 'हिन्दू होने के गर्व' की घोषणा करनी पड़ती है। देश भर की दीवारों पर प्रकाशित कुरूपता समूचे समाज के दिल और दिमागी कंगाली की स्वीकारोक्ति और अभिव्यक्ति है। रहीम के दुधिया मोती जैसे चमकदार हिन्दुस्तानी का पानी क्यों उतर गया और कैसे वापिस आयेगा? इसी पानी की खोज में हमें हिन्दुस्तानी तीर्थ के दर्शन हुए और हमारा यह विश्वास जागृत हुआ कि तीर्थ यानि 'पवित्र पानी' के दर्शन में ऐसी संभावना व्याप्त है जिसके माध्यम से, जिसकी पुनर्चना से हिन्दुस्तान अपनी खोई आबरू को फिर से पा सकेगा।

तीर्थ दर्शन

तीर्थ परंपरा एक अनूठी संस्था है। मूलतः मानव की अलौकिक—लौकिक उहापोह की समुचित एवं संयुक्त अभिव्यक्ति है। नितांत लौकिक या सांसारिक स्तर पर तीर्थ मानव और प्रकृति की वैविध्यपूर्ण एकता और विभिन्नता के मूल स्वरूप हैं। पौराणिक कर्मकांड की मान्यताओं के अनुसार तीर्थ बैकुंठ के द्वार हैं और लौकिक में अलौकिक की अनुभूति।

'तीर्थ' में यह सामर्थ्य तो स्पष्ट ही दिखायी पड़ती है कि इस परंपरा को पुनर्जीवित करने से बहुलवादी हिन्दुस्तानी समाज की आंतरिक रागात्मकता और गत्यात्मकता को पुनः ढर्रे पर डाला जा सकता है। विभिन्न मत—संप्रदायों से संबंधित असंख्य हिन्दुस्तानी तीर्थों की एकता इस समन्वयवादी विचार की साक्षी है। इस तथ्य को आत्मसात करने के लिए तीर्थ दर्शन और विज्ञान को थोड़ा विस्तार से जानना—समझना आवश्यक है।

रीति—रिवाज की दृष्टि से देखा जाये तो तीर्थ परंपरा सनातनी—पौराणिक धर्म—व्यवस्था का महत्वपूर्ण अंग है। वैदिक पौराणिक वाग्मय पर आधारित चंद्र सिद्धांत और ऐतिहासिक तथ्यों के अंतरसंबंधों को समझ लेने से यह वास्तविकता स्वतः स्पष्ट हो सकती है।

1. सृष्टि परम पुरुष परमात्मा के आत्मोसर्ग या निजी बलिदान से निर्मित तत्त्व है। उस परम पुरुष का अनंत सामर्थ्य ही इस जगत के निर्माण की सामग्री है। उस सर्वहितकारी पुरुष से ही यह समस्त जगत उत्पन्न होता है। (पुरुष सूक्त—सृष्टि विद्याविषयः — ऋग्वेद)
2. दृष्टिगोचर जगत की निरंतरता सृष्टि में निर्मित पंचतत्त्व (सूर्य, पृथ्वी, जल, वायु एवं आकाश जिसका निर्माण विराट मानव की निजी आहुति से हुआ) की अनंत पारस्परिक आहुति से निर्धारित है — यानि यह पंचतत्त्व एक दूसरे में अपनी आहुति से प्रकृति का प्रपंच रचते रहते हैं। (प्रमाण आवश्यक नहीं)
3. इस सृष्टि में मानव जन्मता ऋणी है। क्योंकि परम पिता परमेश्वर ने निजी तत्त्व से ही मानव और संपूर्ण सृष्टि, जिसका मानव उपभोग कर रहा है, का निर्माण किया है। प्रकृति या परमेश्वर के ऋण से उऋण होने का संकल्प और कर्तव्य मानव धर्म और सृष्टि की अनंत निरंतरता का आधार है। यह यज्ञ कर्म या उऋण होने का संकल्प और प्रक्रिया उसी आत्मोसर्ग का पर्याय है जो मानव को मानव और सृष्टि के निर्माता प्रकृति या परम पिता परमेश्वर से एकत्व का बोध कराता है। मानव ईश्वर का अंश है — क्योंकि परम पिता ने स्वयं अपने में से उसका निर्माण किया है — मानव ईश्वर तत्त्व से निर्मित है इसलिए ईश्वर का सजातीय है। यही 'एकता बोध' या 'सजातीय भाव' मानव के उऋण होने की समस्त प्रक्रिया, जैसे यज्ञोपवीत, चतुराश्रम आदि का निर्धारण करता है। इसी वैदिक विज्ञान से समस्त मानव, सृष्टि और प्रकृति की एकता निर्धारित होती हैं इसी 'यज्ञ विज्ञान' की प्रेरणा से भारत के कंगाल भी चिड़ियों—कबूतरों के साथ मिल बांट कर जीवन यापन करते हैं। हरि सिंह जी के मृत्युभोज (मौसर) की परंपरा इसी वैदिक विज्ञान की कड़ी है।
4. इस वैदिक विज्ञान और प्रक्रिया की मूर्त क्रियान्विति के लिए चार पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और इस पर आधारित जीवनचर्या के लिए चतुराश्रम — ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास की सामाजिक व्यवस्था कायम है।
5. पिछली दस शताब्दि में सनातन धर्म की शास्त्रीय परंपराओं और लोक व्यवहार के अंतर्द्वन्द्व और अंतरसंबंधों के परिमार्जन से 'भक्ति—प्रेम' का पांचवां पुरुषार्थ इस वैदिक परंपरा का शाश्वत अंग बना और समस्त भारतदेश में सृजन की ऊर्जा के नवीनतम स्रोत की तरह विकसित हुआ। इस नव—सृजन की प्रक्रिया के अंतर्गत ही तीर्थ, धर्म एवं विज्ञान की लोक परंपरा का विकास हुआ — वर्तमान में उपलब्ध तीर्थ परंपरा 500—600 वर्ष से अधिक पुरानी नहीं (गंगोत्री—बद्रीनाथ से लेकर रामेश्वरम् तक किसी पंडे के पास 500 वर्ष से अधिक पुराना बही खाता नहीं)। हालांकि परंपरा आदि विज्ञान से संबंधित है और पूर्णतया वैदिक मान्यताओं पर आधारित है। भक्ति प्रेम ऐसा प्रामाणिक पुरुषार्थ बना कि इस युग में आदि वैदिक धर्म का अतृप्तपूर्व लौकिक विस्तार संभव हो सका। जातिवादी संकीर्णता से मानवीय विकास की संभावनाएं अवरूद्ध हो गयी थी — ऐसे सभी बवरोध — बांध इस पांचवें पुरुषार्थ की प्रेरणा

से यकायक टूट गये और वैदिक धर्म की अजस्र—अमर धारा पुनः प्रवाहित हो गयी। पांचवें पुरुषार्थ उद्भव से पूर्व धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का मार्ग सिर्फ द्विज जातियों के लिए ही संभव रह गया था। लेकिन भक्ति के रूप में पांचवे पुरुषार्थ का विकास होते ही भगवत प्राप्ति का मार्ग सभी जातियों, वर्गों के लिए प्रशस्त हो गया। भक्ति पुरुषार्थ के माध्यम से मध्य युग में अनेक तृतीय एवं चतुर्थ वर्ण—वर्ग की जातियों ने अपने को ब्राह्मण के समकक्ष स्थापित किया। इसी युग में वैश्य वर्ग के अनेक समूहों ने निजी घरों में 'ठाकुर जी' की स्थापना कर ली और 'भगत' जैसा सात्विक आचरण धारण कर शनैः शनैः द्विज आचार—विचार को पूरी तरह अपना लिया। मध्य काल में सामाजिक संस्कृतिकरण की यह प्रक्रिया वैष्णव—वैदिक संप्रदाय तक ही सीमित नहीं थी। इस्लाम और जैन धर्म के माध्यम से भी यह कार्य बड़े पैमाने पर संपन्न हो रहा था। उत्तर भारत में जाट—गुर्जरों का बड़े पैमाने पर इस्लामीकरण, गुरु के धर्म में दीक्षा और जैन धर्म में ओसवाल जाति और वैष्णवों में अग्रवाल समुदाय इस प्रक्रिया के प्रमुख उदाहरण हैं।

भक्ति एवं निजी आचरण में परिवर्तन की प्रथा के विपरीत 19वीं सदी में विलायती प्रभाव से जो 'सुधारवादी' सामाजिक आंदोलन चला उसमें निजी विकास की प्रवृत्ति अवरूद्ध हो गयी। 'सुधार आंदोलन' का उद्भव ऐसी हीनता के भाव का संचार करके हुआ था जिसमें संपूर्ण भारतीय सभ्यता ने अपने को 'फिरंगी—विलायती' से उत्तम मान कर सुधारवाद की प्रेरणा जगायी थी। इस 'सुधारवाद' में अंधविश्वास हमारी गुलाम मानसिकता की नींव का पत्थर है। इस 'सुधारवाद' के तहत ही उस उग्रवादी 'हिन्दुत्व' का विकास हुआ जिसे 'टोडी हिन्दू' की संज्ञा से ही समझा जा सकता है यह 'टोडी हिन्दुत्व' ही आज हमारी मुख्य धारा के रूप में सर्वमान्य है। इस 'उग्रवादी हिन्दुत्व' में ऐसी संभावना कदापि नहीं है जिसमें पिछड़ी एवं दलित जातियों का स्वानुशासन वाला संस्कृतिकरण संभव हो सके। किंतु वर्तमान परिस्थिति में 'टोडी हिन्दुत्व' से सहज मुक्ति संभव नहीं और टोडी संस्कृति से मुक्ति के बिना भारत का कल्याण संभव नहीं।

आज तक की हिन्दू स्मृति में भक्ति आंदोलन वैदिक धर्म की सर्वाधिक सृजनात्मक पुनरावृत्ति है। तीर्थ विज्ञान की लोकधर्मी परंपरा, जो इस युग में भक्ति के विस्तार से विकसित हुयी, इस तथ्य का प्रमाण है कि वैदिक धर्म स्थायी भाव है और संपूर्ण मानवता और सृष्टि की अविरल निरंतरता का मार्ग है। गुलामी के प्रभाव में इस मार्ग से भटक जाने का ही यह नतीजा है कि आज हमारी गिनती विश्व के निकृष्ट राष्ट्रों में की जाती है।

6. इन्हीं पिछले एक हजार वर्षों में हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तानी भाषा, भूगोल और संस्कृति (भवन, भूषा, भोजन व संगीत) का प्रादुर्भाव हुआ। उत्तरी हिन्दुस्तान में (ब्रज से अवध या पाटलीपुत्र तक) जिस जीवन पद्धति को गंगा—यमुना कहा गया वह इसी युग में अंकुरित, पुष्पित, पल्लवित हुयी। इस तथ्य का एक

ही प्रमाण पर्याप्त है कि आज जिस वृन्दावन और उससे संबंधित ब्रज को हम देखते, जानते और दर्शन करते हैं उसका पुनर्प्राकट्य चैतन्य महाप्रभु और वल्लभाचार्य जैसे भक्त-संतों की भवत् प्रेरणा और निर्माण अकबरी शासन के सहयोग से इसी युग में हुआ – इस तथ्य को जरा संजीदगी से ग्रहण करना चाहिए कि वर्तमान तीर्थ परंपरा बस उतनी ही पुरानी है जितना पुराना वर्तमान वृन्दावन है। 'वैदिक' आदि परंपरा है उसका हिन्दू रूपांतरण 500 से हजार वर्ष पुराना है यानि वर्तमान वृन्दावन के समय का।

श्री राधा रस वांग्मय, रास, लीला और अनेक लोकधर्मी नाट्य शैलियों का सृजन भी इसी युग में विकसित पांचवे पुरुषार्थ 'भक्तिप्रेम' की अनूठी देन हैं विस्मयकारी तथ्य तो यह है कि राधा का अवतार और राधा की सर्वाधिक चर्चित 'सौत' मीरा भी इसी युग की ऐतिहासिक कृतियां हैं। ध्रुवपद गायन का देशज एवं लोकभाषाओं में प्रचलन इसी युग में प्रारंभ हुआ। आज जो ध्रुवपद परंपरा हमें विरासत में मिली है उसकी पुनर्स्थापना कृष्ण-भक्ति-प्रेम की अष्टछाप परंपरा से ही संभव हो सकी। हिन्दुस्तानी संगीत, विशेष रूप से प्वाल गायन और कथक की शुरुआत इन्हीं दिनों में हुयी। सितार, तबला, ढोलक आदि वाद्ययंत्रों का विकास भी इसी युग में हुआ। उत्तर भारतीय संस्कृति का कोई अंग – रोटी से अंगरखे तक तक – ऐसा नहीं जिस पर गंगा-यमुना संस्कृति की छाप न लगी हो। यही वह युग था जो भारतीय इतिहास में 'इस्लामी ध्वंस' का युग भी था। शायद उस दबाव का ही नतीजा उस युग का समन्वय और सृजन था। मूल तथ्य यह है कि उस युग की रचना और सृजन अत्यंत असाधारण हैं। उस युग के संघर्ष और समन्वय को धैर्य से पहचानना होगा। उस युग में तीर्थ धर्म की लोक परंपरा का विकास एक अद्वितीय घटना है।

7. वैदिक मान्यताओं की शास्त्रीय परंपरा के अनुसार 'पंचतत्त्व-यज्ञ' की कलात्मक, सुंदर, मनोहर अभिव्यक्ति ही तीर्थ है। 'तीर्थ' तीन कारणों से पवित्र माने जाते हैं, यथास्थल की कुछ आश्चर्यजनक प्राकृतिक विशेषताओं के कारण, या किसी जलीय स्थल की अनोखी रमणीयता के कारण, या किसी तपः पूत ऋषि या मुनि के वहां (स्नान करने, तप साधना करने आदि के लिए) रहने के कारण। अतः तीर्थ का अर्थ वह स्थल या जलयुक्त स्थान (नदी, प्रपात, जलाशय आदि) है जो अपने विलक्षण स्वरूप के कारण पुण्यार्जन की भावना जागृत करे। उसके लिए किसी आकस्मिक परिस्थिति (यथा सन्निक में शालिग्राम आदि) का होना आवश्यक नहीं।' (पांडुरंग वामन काणे धर्मशास्त्र का इतिहास, हिन्दी संस्करण – तृतीय भाग – पृ.सं. 1301)

अनेक वैदिक-पौराणिक विवरणों से यह स्पष्ट है कि तीर्थ जल का पर्याय है। मूल अर्थ में जल का किनारा या तीर ही शास्त्रीय तीर्थ और लोक परंपरा का तीर्थ है। वैदिक सिद्धांत में तीर्थ ऐसे स्थल के रूप में भी परिभाषित किये गये हैं जहां पंचतत्त्व (सूर्य, पृथ्वी, जल, वायु एवं आकाश) किसी विलक्षणता

के साथ प्रस्फुटित हों। यानि तीर्थ पंचतत्त्व की पारस्परिकता (जिजमानी) या प्राकृतिक—यज्ञ का सहज सौंदर्य है।

भक्तिकाल में विकसित लोक परंपराओं में तीर्थ ईश्वर दर्शन यानि परम पुरुष या प्रकृति की कृपा, अनुकम्पा से तादात्म्य और पिता रूप परमेश्वर या मां—स्वरूपा प्रकृति के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने का सरल और सहज भाव है। इसीलिए हिन्दुस्तानी गांव में जहां कुआं है वहीं मंदिर और शिवालय है। जहां जल है वहीं भगवान हैं जहां घट और घाट वहीं तीर्थ — इस वैदिक लोक विज्ञान की परिभाषा कबीर ने भी की थी :

“माया महाठगिनी मै जानी,
केशव के कमला बनू बैठी
शिव के भवन भवानी।
पण्डा की मूरत बन बैठी,
तीरथ में भई पानी।”

8. तीर्थ विज्ञान के अनुसार लौकिक जीवन या मायावती संसार में जो कुछ द्रष्टव्य है वह जल के माध्यम से निर्मित हुआ है। जल समस्त जीवन का आधार है। पंचतत्त्व के पारस्परिक यज्ञ/बलिदान/आहुति का मूल माध्यम जल ही है। इस प्राकृतिक यज्ञ प्रक्रिया के लिए जल का पवित्र और निर्मल होना अनिवार्य है। जल की पवित्रता, निर्मलता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए शौच, अशौच, शुद्ध—अशुद्ध की विस्तृत प्रक्रिया में मूल उत्प्रेरक तत्त्व के रूप में जल की अनिवार्यता और इसकी अनिवार्य निर्मलता के कारण ही जल को पवित्रता और पुण्य का कारक माना गया। अनिवार्य निर्मलता के कारण ही जल में स्वनिर्मलीकरण की प्रकृति निहित है। यह आम जानकारी की बात है कि पानी बहते—बहते स्वच्छ होता रहता है। ठहरा जल भी वायु के वेग से हिलोरे लेकर निर्मलीकरण का प्रयास करता है। यूं भी सलाना चक्र में पानी स्वयंमेव भाप बनकर, भाप से बादल बनकर और फिर बरसकर स्वनिर्मलीकरण की प्रक्रिया को निरंतर कायम रखता है। इस स्व—निर्माल्य प्रवृत्ति के कारण भी जल को पवित्रता और पुण्य का कारक माना गया। इसीलिए जलयुक्त तीर्थ को पाप नाशक, पुण्य कारक, पवित्र और पुण्य हेतु प्रेरणादायी माना गया। तीर्थ में स्नान का यही महत्त्व है कि मनुष्य जल का स्वनिर्मलीकरण गुण ग्रहण करें।

9. तीर्थ दर्शन के लौकिक सिद्धांत के संदर्भ में यह समझना आवश्यक है कि तीर्थ यात्री या दर्शनार्थी की भावना में समानता होते हुए भी न तो ईसाईयत का ‘पिलग्रिमेज’ है, और न ही इसलामी अरब का ‘हज’। तीर्थ विज्ञान समस्त गोचर जीवन के विलक्षण एवं अनिवार्य आधार जल के माध्यम से जीवन और जगत की निरंतरता का मूर्त सिद्धांत है। इसीलिए हिन्दू लोक परंपरा में जहां जल है वहीं तीर्थ है। गांव के कुएं, जोहड़ से लेकर झील, सरोवर, जल प्रपात, नदी, समुद्र तक पानी का हर स्थान लोक

परंपरा और शास्त्रीय धारणा का तीर्थ है। राजस्थान की पुरानी हवेलियों में ठाकुर जी का आला और धड़ौंची (पानी रखने का स्थान) अगल-बगल बनाय जाती थी, दक्षिण भारत में जल के लिए प्रचलित शब्दों में एक आम शब्द तीर्थ ही है। प्रत्येक धार्मिक कृत्य और संस्कार के लिए उपयुक्त स्थल तीर्थ ही है। संस्कार विवाह का हो या नित्य श्राद्धकर्म का वरुणदेव के साक्षी के रूप में प्रत्यक्ष तीर्थ का स्थापित किया जाना अनिवार्य संस्कारविधि है। घट, कलश या लोटे में स्थापित किया गया जल वरुणदेव के रूप में समस्त तीर्थों का प्रतिनिधित्व करता है।

पूनाराम जी आदिवासी झील जाति के हिन्दू हैं। बनिये-ब्राह्मण की तरह द्विज या 'संस्कारिता' वैदिक या पौराणिक नहीं। उन्होंने जिस सत्य को आदिम संस्कार के रूप में पाया है उसमें और वैदिक हिन्दुत्व में जो समानता है वहीं वास्तविक हिन्दुत्व है। जो हिन्दू परंपरा भारतीय आदिवासी वैविध्य (उसके निजी कानून आदि) को समाहित न कर सके ऐसा हिन्दुत्व खोटा है।

दक्षिण राजस्थान के आदिवासी अंचल में डूंगरपुर-बांसवाड़ा की सरहद पर स्थित बेणेश्वर की त्रिवेणी प्रयाग की त्रिवेणी से पुण्य प्रेरणा में किसी तरह कम नहीं। कार्तिक पूर्णिमा को राजस्थान, गुजरात के आदिवासी बहुत बड़ी संख्या में वहां उपस्थित होते हैं और अपने पितरों को जल देते हैं, पिंडदान करते हैं। इसी आदिवासी श्रद्धा से जल का वैदिक विज्ञान विकसित हुआ है। जो कुछ आदिकाल से नहीं है वह वैदिक नहीं है। पूनाराम जी ने ईश्वर रूप की जो व्याख्या की है वह इस तथ्य का प्रमाण है कि जो कुछ आदि काल से है बस वही वैदिक है। आदि और वैदिक पर्याय है। यह दोनों ही इतिहास की परिधि से बाहर हैं। ब्रज की आत्मा वैदिक युगीन नहीं तो ब्रज हिन्दू तीर्थ नहीं। और जो कुछ आदि या वैदिक है वह न्यूनतम एक अरब 96 करोड़ वर्ष से अधिक पुराना है। आधुनिक हिन्दू को यह याद रखना होगा कि ऐतिहासिक और प्राग-ऐतिहासिक की समस्त कल्पना दस-बीस हजार साल भी पूरे नहीं कर सकती। ईसाईयत दो हजार वर्ष पुरानी है और इस्लाम की आयु सिर्फ 1400 साल की है – इतिहास की समस्त धारणा ईसा से 500-1000 वर्ष पूर्व तक फैलायी जा सकती है उससे अधिक नहीं और प्राग-ऐतिहासिक की कल्पना को ईसा से दस हजार वर्ष पूर्व तक खींचा जा सकता है – इससे और पीछे नहीं। लेकिन 'आधुनिक हिन्दू' की सर्वाधिक संशयात्मक विडम्बना तो यही है कि आदि और वैदिक की 'ऐतिहासिकता' कैसे प्रमाणित करे। फिरंगी गुलामी के दौर में उसने यही सीखा है कि जो कुछ 'ऐतिहासिक' नहीं वह सत्य और प्रामाणिक नहीं। जो कुछ 'ऐतिहासिक' नहीं वह 'सभ्यता' नहीं। इस गुलाम मानसिकता में फंसा हिन्दुत्व 'गौरवान्वित' होने के लिए देश भर की दीवारों को बदसूरत बना रहा है।

पूनाराम जी को मास्टर मनफूल सिंह की तरह विश्वविद्यालय से प्राथमिक स्कूल तक कहीं भी आधुनिक शिक्षण का अवसर नहीं मिला। वह स्वप्रेरणा से पाबू की भक्ति करते हैं और अपने संस्कार, आचरण,

व्यवहार के लिए स्वयमेव गौरवान्वित हैं – उनका गौरव जागृत करने के लिए न कोई वाह्य एजेंसी चाहिए और न दीवारों पर लिखा नारा। वह निजी स्तर पर प्रयासरत हैं कि उनके क्षेत्र मारवाड़ की समस्त भील जाति और अन्य दलित भक्ति और ज्ञान का मार्ग अपनाकर स्वयं अपने कल्याण का मार्ग प्रशस्त करें। लेकिन 'किसान पुत्र' मनफूल सिंह जी आत्म विश्वास खो चुके हैं और निरंतर इस इंतजार में हैं कि विश्व हिन्दू परिषद उनके 'उद्धार' के लिए शीघ्रातिशीघ्र किसी सिद्ध परिव्राजक 'मिशनरी' की नियुक्ति उनके गांव में कर दे ताकि उनका जाति समाज, बनिया-ब्राह्मण वर्ग की तरह पूर्ण आधुनिक पद्धति की उपभोक्ता संस्कृति का लाभ ले सकने में सक्षम हो जाय। पिछले 70 वर्षों में तो यह संभव नहीं हो सका कि संघ परिवार भारत के किसी भी वर्ग में स्वदेश संस्कृति के लिए आत्म विश्वास जागृत कर सके – कभी भविष्य में ऐसा संभव होगा इसकी आशा अत्यंत क्षीण है। यदि पूनाराम भी मास्टर मनफूल सिंह की तरह हाई स्कूल तक स्कूल गये होते तो उन्हें भी निजी स्तर पर 'गौरवान्वित' महसूस करने के लिए 'कलियुगी-राम मंदिर' निर्माण की प्रक्रिया से जुड़ना पड़ता। क्योंकि 'शिक्षित' हिन्दू अथवा उससे प्रभावित हिन्दू की चेतना का स्रोत फिरंगी रचित 'इतिहास' चरितावली में है, तिस पर मास्टर मनफूल सिंह ने तो तीन एम.ए. पास कर रखे हैं। उनके इस दुःख का तो संघ परिवार को अभी आभास ही नहीं है कि ट्रिपिल-मास्टर होने के बावजूद मनफूल सिंह शहरी बनिये-बामन जैसी सुसंस्कृत भाषा नहीं बोल सकते। मास्टर साहब के जहन की एक और गहरी बात है। 'सायरबाई के वोट राज' से वैभव और सत्ता में हिस्सेदारी तो मिल सकती है, किंतु संस्कृति में बराबरी किस प्रजातंत्र या तंत्र से उपलब्ध हो सकती है – इसका कोई अनुमान मास्टर साहब को नहीं है।

मास्टर मनफूल सिंह ट्रिपिल एम.ए. और सरकारी अध्यापक होने के नाते वेतनभोगी होते हुए भी किसानी करते हैं। इसलिए उनके तथ्यों और तर्कों से जमीन की गंध उठती है। उन्होंने राई-लौकी युक्त रायते और अनारदाने की महीन चटनी से लेकर केसर-ईलायची युक्त श्रीखण्ड, अमरस आदि तक के मुद्दों की जो बात उठाई है – वह रोचक भी है, वास्तविक भी और असाधारण भी। इस्लामी युग में धर्म परिवर्तन की जिस मजबूरी का जिक्र मनफूल सिंह कर रहे हैं वह भूरी काफी हद तक अकाट्य और हमारे सांस्कृतिक-सामाजिक इतिहास के पेचीदा तथ्यों को इंगित करती है। वर्तमान संदर्भ में उपभोग और सांस्कृतिक गौरव का मसला परस्पर संश्लिष्ट है। मस्जिद विध्वंस आंदोलन के माध्यम से मास्टर साहब को कुछ समय के लिए यह मुगालतया अवश्य हो सकता है कि आधुनिक हिन्दू की सांस्कृतिक विरासत में उनकी भी हिस्सेदारी हो रही है। किंतु इस मुगालते से मनफूल सिंह उस आध्यात्मिक ऊर्जा को प्राप्त नहीं कर सकते जिसके माध्यम से पश्चिमी उत्तर प्रदेश के किसान पुत्र दारू पीकर भरत मुनि के नाट्य शास्त्र पर चर्चा कर सकेंगे। मस्जिद ध्वस्तीकरण का रास्ता तो बनिये-बामनो को भी ऋतंभरा देवी के कैसेट सुनने तक सीमित कर रहा है – मस्जिद ध्वंस का रास्ता किसी को भी उपनिषद अध्ययन

के लिए प्रेरित नहीं कर सकता। इस रास्ते तो किसान पुत्र स्वयं मास्टर जी की तरह उन सवालों तक भी नहीं पहुंच सकेंगे जो हिन्दुस्तानी सांस्कृतिक गैर बराबरी के परिणामस्वरूप पैदा हुए हैं। पानी की निर्मलता का सवाल भी सांस्कृतिक गैर बराबरी का सवाल है।

अग्रणी समाज का हिस्सा बनने के लिए या सांस्कृतिक बराबरी के लिए 'सुधारवाद' या धर्म परिवर्तन का मार्ग नितांत अपर्याप्त सिद्ध हुआ है। इस्लामी युग से गुलाम युग की ईसाईयत तक और हाल ही में परिवर्तित नवबौद्धों की जो सामाजिक दशा है वह आम जानकारी का विषय है। 'ईश्वरीय कल्पना' से एकात्मता स्थापित करने की सहज-सुलभ प्रक्रिया या पुरुषार्थ का नाम ही भक्ति है – इसमें हिन्दू-मुसलमान या ईसाई होने से कोई अंतर नहीं पड़ता। भक्ति के माध्यम से कोई भी व्यक्ति या वर्ग संस्कृति के शीर्षतम शिखर तक सहज ही पहुंच सकता है – जैसा कि कबीर, रैदास और मीरा आदि का मार्ग वास्तव में वैदिकी मार्ग है – इसका हिन्दू, मुसलमान या ईसाईयत आदि किसी भी संप्रदाय से कोई विरोध या संबंध नहीं। जो कोई स्वयं को ईश्वर का सजातीय महसूस कर सकता है वह ईश्वर के सदृश बन सकता है। इस स्तर की मानवता को हासिल करने के लिए किसी भी बाह्य प्रेरणा की आवश्यकता नहीं। सोलंकिया तला के पूनाराम भोपा इस मार्ग से चलने का प्रयास कर रहे हैं। किंतु मास्टर मनफूल सिंह 'सामाजिक सुधार' के रास्ते बनिये-बामन की शक्ल पाना चाहते हैं।

'सामाजिक सुधार' का रास्ता 'सांप्रदायिक वैमनस्य' का मार्ग है – 19वीं-20वीं सदी का घटनाक्रम साक्षी है कि 'सुधार' प्रक्रिया ने खुलावट, आदान-प्रदान की प्रवृत्ति को कम किया और कट्टरता को बढ़ाया – 'धर्म परिवर्तन' की प्रक्रिया भी 'सुधार' की पृष्ठभूमि में विकसित की जाती है। 'धर्म परिवर्तन' की प्रक्रिया से किस कदर वैमनस्यता बढ़ता है – इसके प्रमाण की आवश्यकता नहीं। 'सुधार' की आवश्यकता ही 'हीनता' के भाव को विकसित करके की जाती है। 'हीन भाव' को सुदृढ़ किया जायेगा तो वैमनस्य भी बढ़ेगा। उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ तक कंपनी सरकार ने हमारी 'दीनहीन' भावना को पूरी तरह स्थापित कर दिया था – उसके बाद हमारी समस्त परंपराओं का खिस्तीकरण तो सहज प्रक्रिया थी। यह आश्चर्यजनक नहीं कि इस युग में अधिकांश धर्माचार्य 'मिशनरी' भावना से प्रेरित थे। धर्म यदि नैतिक-वैदिक आचरण का पर्याय है तो उसमें संप्रदायवादी मिशनरी भावना का समावेश कैसे संभव है? 'हिन्दू' यदि संप्रदाय न होकर धर्म है तो उसका प्रसार-प्रचार नैतिक आचरण से होगा, 'शुद्धि आंदोलन' से नहीं, जैसा कि 15वीं-16वीं सदी में हुआ भी। नैतिक-धर्माचरण तो स्वतः प्रेरित और प्रेरणादायी होगा। वैदिक सांस्कृतिक विरासत में हिस्सेदारी का मार्ग भक्ति और तीर्थ का मार्ग है। भक्ति का मूर्त एवं लौकिक स्वरूप ही तीर्थ है। तीर्थ भावना को पुनरुज्जीवित करने से समस्त भारतीय हिन्दू समाज को इस धरती की सांस्कृतिक विरासत में सहज हिस्सेदारी मिल जाएगी और स्वस्थ जीवन के लिए स्वच्छ जल भी – स्वच्छ-निर्मल जल और स्वस्थ जीवन का प्रश्न मूलतः सांस्कृतिक प्रश्न

है। स्वस्थ जीवन होगा तो भारत निश्चित ही अंतर्राष्ट्रीय फुटबॉल प्रतियोगिता में हिस्सेदारी करेगा वरन् नहीं। स्वस्थ जीवन का मसला शुद्ध जल और संस्कृति का मसला है – आर्थिक–राजनीतिक बराबरी का नहीं। छोटे बच्चों को नजले और दस्त से बचाने की समस्या पूर्णतया संस्कृति का सवाल है। तीर्थ परंपरा से जुड़ कर मास्टर मनफूल सिंह यदि अपने गांव के तालाब और कुओं का पुनरुद्धार कर लें तो स्वयंमेव गांव के धर्म पुरुष बन जायेंगे। और इस प्रक्रिया में सैकड़ों किसान–मजदूर–दलित चुवजनों को जोड़ कर संस्कृति का वास्तविक वारिस बना सकेंगे। जिस सांवली, सलोनी, सुघड़, तेजस्वी, साहसी, आधुनिक सुचारिता का चरित्र – चित्रण टैगोर ने 'गोरा' उपन्यास में किया है उस भारतीय आधुनिक नारी की छवि को अपनी मां, पत्नी, बहन, बेटा में मास्टर साहब तभी निहार सकेंगे जब उनके गांव का पनघट उतना ही मनोहर होगा जितना कि वह कृष्ण लीला के युग में था। 'स्वदेशी आंदोलन' और भक्ति युगीन कृष्ण लीला के पनघट की वास्तविक संरचना जुड़े हुए मुद्दे हैं। इन्हें संयुक्त दृष्टि से देखने का प्रयास इस लेख का मूल विषय है।

तीर्थ परंपरा का पतन

आधुनिकता की चाह से उपजी असुरक्षा, निकट भूत और वर्तमान में पनपी मत–मतांतर की धर्माधता और आधुनिकतावादी हिन्दुत्व के उग्रवादी आचरण से विकसित संकीर्णता के कारण पिछले 50–100 वर्षों में तीर्थ परंपराओं और मान्यताओं का भयावह ह्रास हुआ है – जल संबंधी शौच–अशौच के नियम व्यापक रूप से समाप्त हो गये। बड़ी बातों को छोड़ दें आज से सौ वर्ष या 50 वर्ष पहले कोई व्यक्ति शंका–निवृत्त हुए बिना नदी या जलाशय में प्रवेश नहीं कर सकता था – या गांव के जलस्रोतों के क्षेत्र में शंका निवारण नहीं कर सकता था। आम आदमी को इस आचरण के लिए स्वतः समझ थी और स्व–अनुशासित नियमों पर आधारित थी। आज अधिकांश तीर्थ स्थल–नगर, नदियां, जलाशय, कुएं, बावड़ी केवल गंदगी, उससे उत्पन्न दुर्गंध और मिथ्याचार के प्रतीक हैं। इस वास्तविकता को कदापि नहीं नकारा जा सकता कि आज मथुरा–वृन्दावन की यमुना और काशी की गंगा के दर्शन मात्र से धिन का भाव उत्पन्न होता है। और यह सत्य भी बहुत पुराना नहीं (लेखक स्वयं साक्षी है) कि चीर घाट, विश्राम घाट, दशाश्वमेघ शहरी वास्तुकला एवं नैसर्गिक सौंदर्य की साझी धरोहर के अनुपम प्रतीक थे।

गंदे नाले

नदी नालों की गंदगी का सिलसिला बस उतना ही पुराना है जितना हिन्दू की आधुनिकता और ब्रिटिश गुलामी का इतिहास। दिल्ली के प्राकृतिक जल बहाव को गंदे नालों में परिवर्तित करने का काम 1857 के बाद ही शुरू हुआ। लेकिन आज दिल्लीवासियों को यह याद दिलाना लगभग असंभव है कि दो तीन–चार पीढ़ी पूर्व तक दिल्लीवासी अपनी रोजमर्रा की आवश्यकता का पानी नियमित रूप से यमुना

जी से भर कर लाते थे या इन्ही 'गंदे' नालों में प्रवाहित निर्मल जल का प्रयोग करते थे। दिल्ली शहर में कुंओं-बावड़ियों का पानी दोगुना माना जाता था। 1950 के आसपास तक दिल्ली शहर की खत्रानियां, बनैनियां, बामनी आदि नियमित रूप से टोलियों में इकट्ठी होकर रामजस गाती यमुना जी नहाने जाती, और रसोई के लिए आवश्यक एक-दो मटकी पानी लेकर 'जरिजस' गाती वापिस लौटती सूर्योदय से पूर्व ही देखी जा सकती थी। ताजे बहते पानी के प्रयोग की विधि और परंपरा कब, क्यों और कैसे समाप्त हो गयी इसका न तो हमारे समाजशास्त्रियों को एहसास है, ना ही स्वास्थ्य शास्त्रियों ने यह जानने का प्रयास किया कि दिल्ली शहर के जन स्वास्थ्य पर इस बुनियादी परिवर्तन का क्या प्रभाव पड़ा है। नदियों का प्रदूषण हिन्दुस्तानी विकास और आधुनिकीकरण का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रतीक है। नदियों के निर्मलीकरण का आंदोलन चलेगा तो स्वदेशी भी चलेगा – स्वदेशी के लिए पवित्र जल और निर्मल मानस आवश्यक है।

अधिकांश भारतीय तीर्थ (सनातनी, जैन, बौद्ध, हिन्दू, सूफी आदि) रमणीक पहाड़ पाहड़ियों, नदी नालों, झील तालाब के या समुद्र के किनारों पर स्थापित किये गये। इस परंपरा में प्राकृतिक संपदा को सुरक्षित और पूर्णतया सार्वजनिक बनाये रखने का विधान था। तीर्थों में उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग तो खुल कर दिया जा सकता था, लेकिन निजीकरण के माध्यम से शोषण या दुरुपयोग नहीं। गंगा-यमुना के तटों पर अस्पृश्यता लागू नहीं हो सकती थी – नदियों के घाट सभी के लिए समान रूप से खुले थे। गंगा, यमुना अन्य पवित्र नदियों के तटों पर निजी संपत्ति का विकास 100-125 वर्ष से अधिक पुराना नहीं। तीर्थ स्थलों पर 'आधुनिक हिन्दू' ही निजी संपत्ति का विकास कर सकता है – पारंपरिक हिन्दू तीर्थ स्थलों पर सार्वजनिक घाट और धर्मशाला का निर्माण करता था। 'आधुनिक हिन्दू' आर्थिक विकास के लिए गंगा की पवित्रता और नैसर्गिक संपदा के सर्वनाश को उचित मान सकता है। तथाकथित परंपरावादी 'आधुनिक हिन्दू' की तो यह स्पष्ट घोषणा भी है कि गंगा प्रदूषण को रोकने या नर्मदा में स्थित शिव तीर्थों की सुरक्षा के लिए विकास की गति को नहीं रोका जा सकता। यह तथ्य बिल्कुल साफ है कि आधुनिक हिन्दू को 'विकास' चाहिए गंगा की पवित्रता और अविरलता नहीं। आधुनिक विकास और सार्वजनिक स्वच्छता की परंपरा में निहित आधारभूत विरोधाभास हमारे इस निबंध का केंद्र बिंदू है।

विकासवादी आधुनिक हिन्दू 'विकास' के लिए परम पावन गंगा को इस कदर दूषित कर सकता है कि उसके दर्शन मात्र से घिन की सिरहन मन और शरीर में दौड़ जाती है। दिल्ली, वृन्दावन की यमुना और काशी की गंगा आज किसी गटर से भी ज्यादा गंदी और प्रदूषित है। तिस पर एक हिन्दुत्ववादी मुख्यमंत्री का तो यह स्पष्ट आरोप है कि 'गंगा की पवित्रता', नर्मदा के शिव तीर्थों की सुरक्षा' और

वन, पहाड़ों की प्राकृतिक संपदा को सुरक्षित बनाये रखने की बात 'राष्ट्रद्रोही – विकास विरोधी तत्त्व' ही करते हैं।

पिछले 200 वर्षों का इतिहास साक्षी है कि आधुनिक प्रगतिशील विकासवाद लौकिकता का मार्ग प्रदूषित मानसिकता को निरंतर पुष्ट कर रहा है। इस प्रदूषित मानस को जब सांस्कृतिक व्योम उपलब्ध हो जाता है तब उग्रवादी संकीर्ण (धरती पुत्र आदि) विचार धाराओं का उदय होता है। हिन्दुस्तानी अनुभव के अनुसार 19वीं–20वीं सदी का आडम्बर विरोधी सुधारवाद ही सांस्कृतिक व्योम की जननी है। महाराष्ट्र में शिव सेना, उत्तर प्रदेश में बजरंग दल, पंजाब में खालिस्तान पृथकतावाद, कश्मीरी हिंसा आदि ने जिस सांस्कृतिक व्योम में तम्बू ताने हैं, उस व्योम की रचना आधुनिक, सुधारवादी, अनुदारवादी और प्रगतिशील दलों द्वारा निर्मित 'आधुनिक विकास और उच्च–उच्चतर भौतिक जीवन स्तर' की मांग में निहित है। गुलामी के दिनों से आज तक जैसे–जैसे पाश्चात्य आधुनिकता, सामाजिक सुधार और विकास की मांग का विस्तार हुआ है वैसे–वैसे हिन्दुस्तानी दिल और दिमाग से गरीब हुआ है। भारतीय शहर आत्माविहिन, कुरूप कंकरीटी जंगल, असीमित दुर्गंध और व्यापक प्रदूषण के केंद्र बन रहे हैं और गांव बेकारी, लाचारी, भूखमरी, बीमारी के अनन्त स्रोत की तरह विकसित हो रहे हैं। यही वो परिस्थिति और जमीन है जिसमें सांस्कृतिक हिंसा या हिंसा की संस्कृति का उदय और विकास होता है।

अधिकांश आधुनिक लेखक–विचारक सामाजिक कार्यकर्ता वर्तमान संदर्भ में कासिम खां की जुबान समझने में असमर्थ हैं। कासिम खां के साथ संवाद आज असंभव ही नहीं है। प्रगति के जिस शिखर पर हम पहुंच गये हैं वहां यह स्वीकार कर लेना कि दूध का व्यापार होगा तो छछला में कुपोषण का इलाज नहीं हो सकता – यह अकल्पनीय है। आज यह समझना है कि मनुष्य रोटी नहीं संस्कृति से जीवन के व्यापार की निरंतरता कायम करता है, नक्कारखाने में तूती बजाने जैसा है। यह बात तो कुछ समय के लिए सोची जा सकती है कि पंजाब और कश्मीर का उग्रवाद हमारी समझ से परे है लेकिन यह नहीं स्वीकारा जा सकता कि हमें शिव सेना और बजरंग दल के विकास की प्रक्रिया भी समझ में नहीं आती। बंबई (महाराष्ट्र) में बाल ठाकरे ने शिव सेना की फसल उसी जमीन में उगायी है जिसमें कम्युनिस्ट और समाजवादियों ने हल चलाया था। जिस कामगार को श्रीपाद अमृत डांगे और जॉर्ज फर्नांडिस ने वेतन सुधार के लिए संघर्ष करना सिखाया है उसी कामगार की सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति शिव सेना ने विशाल गणपति उत्सव आयोजित करके पूरी की है। यह तथ्य दीगर है कि विशाल गणपति समाहरो में भाग लेने के बावजूद गिरनी कामगार चितपावन और सारस्वत ब्राह्मण के घर में आयोजित छप्पन भोग की संस्कृति से वंचित ही रहता है। कटहल के पत्ते में बनी इडली की तो सुगंध भी उसे नसीब नहीं। गिरनी कामगार को 'गणपति उत्सव' की नियति से न रणदिवे बचा सकते हैं न एस.एम. जोशी। फर्क इतना ही है कि उसे गणपति उत्सव तक नामदेव और तुकाराम

के मार्ग से ले जाया जाता तो वह छप्पन नहीं तो 16 पकवानों के भोग तक जरूर पहुंच जाता। शिव सेना मार्ग से इसकी कोई संभावना नहीं है। विशाल देवी जागरण के माध्यम से समाज को मस्जिद ध्वंस के लिए बजरंग दल में संगठित किया जा सकता है या रामायण-मेला के माध्यम से सुसंस्कृत बनने का अवसर दिया जा सकता है। कभी भी कोई समाज सांस्कृतिक व्योम में जिन्दा नहीं रह सकता। पंथ-निरपेक्ष समाज की संस्कृति की संरचना भी व्यापक स्तर पर ही करनी पड़ेगी – ‘उसकी जड़ें भी जमीन से ही उगानी होंगी। ‘सहमत’ द्वारा आयोजित ‘नुक्कड़ नाटक’, रासलीला और रामलीला का स्थान आसानी से नहीं ले सकते। तीर्थ और रामलीला का रास्ता – जमीनी संस्कृति का रास्ता है। ‘नुक्कड़ नाटक’ सांस्कृतिक व्योम का प्रतीक है।

तीर्थ क्षमता

व्यापक पतन के बावजूद तीर्थ आज भी भारतीय समाज में अलौकिक प्रेरणा के महत्वपूर्ण स्रोत हैं, साथ ही लौकिक एवं नित्य जीवन का आधार भी। आज भी भारत देश का दैनन्दिन जीवन नदी, नालों, तालाब और जल के अन्य प्राकृतिक स्रोतों पर निर्भर है। सैकड़ों-हजारों तीर्थ क्षेत्रों में आज भी ऋषि परंपरा के अनेक प्रेरणादायी साधू-संत मौजूद हैं। ऐसे सच्चे संतों और तीर्थ स्थलों की पुण्य प्रेरणा से इन स्थानों पर लाखों गेरुआधारी और सहज लिठल्ले स्त्री-पुरुष भोजन-भूषा-भवन आदि की चिंता से मुक्त जीवन जी रहे हैं। इन क्षेत्रों की नदियां, ताल, सरोवर, या अन्य तरह के जल स्रोत पुण्य प्रेरणा का स्रोत हैं। जेठी दशहरा, कार्तिक पूर्णिमा, मकर सक्रांति और कुंभ जैसे महापर्वों पर जो लाखों-करोड़ों लोग मीलों पैदल यात्रा कर तीर्थ के जल में स्नान-दान आदि करते हैं – वह आधुनिक जन की तरह हिप्पोक्रीट या बगुलेभगत नहीं। इस तथ्य को पहचानना आवश्यक है कि घोर पतन के बावजूद तीर्थ के प्रति आम जन की श्रद्धा और विश्वास और तीर्थों का स्थायी-वासी भारतीय साधू समाज स्वतः स्फूर्त सामाजिक ऊर्जा का अनन्त स्रोत है।

देश भर में स्थित विभिन्न संप्रदायों से जुड़े छोटे-बड़े तीर्थ भारतीय राष्ट्रियता के आधार स्तम्भ हैं। राष्ट्र की भौगोलिक परिभाषा तो शायद हमारे विश्वविद्यालयी अध्यापकों को भी न याद हो। किंतु लोक मानस का राष्ट्रीय भूगोल मूलतः तीर्थ सूची आधारित है। और आमजन को यह स्वतः कंठस्थ है। समाज के सभी वर्गों के लिए अमरनाथ, केदारनाथ, बद्रीनाथ, गंगोत्री, जमनोत्री आदि उत्तरी सीमा के प्रतीक हैं, रामेश्वरम-कन्याकुमारी दक्षिणी छोर के, द्वारका पश्चिम का कोना है और कामाक्षी पूर्वी सीमा की देवी। सीमाओं से अतिरिक्त भी समस्त देश का मानचित्र लोक मानस स्तर पर तीर्थ बोध आधारित है। विभिन्न क्षेत्रों की संस्कृति और सभ्यता से अपनत्व का भाव भी तीर्थ प्रसाद-सामग्री खेल-खिलौने एवं उपयोगी कलात्मक वस्तु आधारित है।

जम्बू द्वीप सदैव से मौलिक विभिन्नता और सांस्कृतिक वैविध्य का देश रहा है। वर्तमान भारत देश में आठ प्रमुख सांप्रदायिक विचारधाराएं या पंथ प्रचलित हैं। हिन्दू, बौद्ध, जैन, इस्लाम, सिख, पारसी, ईसाई और नगण्य मात्रा में यहूदी। मत-मतांतर आधारित इनके सैकड़ों हजारों विभिन्न पंथ, संप्रदाय हैं। इसके अतिरिक्त सैकड़ों बनवासी जातियां और समुदाय हैं जिनके 'ईश्वर' विश्वास के अपने तौर तरीके हैं। विभिन्न पंथ, जाति, संप्रदायवादी भेद-विभेद और अराधना पद्धतियों में मूलभूत अंतर होने के बावजूद इन सभी संप्रदायों-समुदायों के सामान्य जन में तीर्थ और तीर्थ प्रदत्त चमत्कार में विश्वास की समानता प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती है। यह कथन कदापि अतिशयोक्ति नहीं कि इस विशिष्ट संदर्भ में भारतीय तीर्थ परंपरा एक अनोखी संस्था है। भारत की सामान्य जनता, विशेष रूप से हिन्दू में, एक दूसरे के तीर्थ, देवी-देवता, चमत्कारी महापुरुषों से पुण्य-अर्चना या कष्ट-निवारण लाभ लेने की प्रवृत्ति व्यापक रूप से दिखायी पड़ती है। हिन्दुस्तान में प्रचलित कोई भी पंथ-संप्रदाय इस प्रवृत्ति से अलग नहीं।

अयोध्या स्थित आराधना-स्थल के विध्वंस के लिए जब बहुत व्यापक 'जन आंदोलन' चल रहा था - उन्हीं दिनों एक जन-सर्वेक्षण के दौरान पश्चिमी उत्तर प्रदेश में बिजनौर शहर की विश्व हिन्दू परिषद की इकाई के नेता ने लेखक को इस तथ्य से अवगत कराया कि इस्लाम से जुड़े कट्टरपंथी संगठनों के पास जो धन है उसका स्रोत विदेशी नहीं बल्कि हिन्दुस्तान भर में मुसलमान पीरों की मजारों पर हिंदुओं द्वारा मनौति मानकर चढ़ाया जाने वाला चढ़ावा है। इस विश्व हिन्दू परिषद के कार्यकर्ता के कथनानुसार रुड़की-हरिद्वार के निकट कलियर पीर से लेकर अजमेर शरीफ तक इस तथ्य की प्रमाणिकता को साल के किसी दिन भी जांचा-परखा जा सकता है।

संभवतः भारत विश्व का ऐसा अकेला देश है जहां सभी धर्मों के स्वयंभू पवित्र तीर्थस्थल स्थित हैं, और सामान्य सामाजिक स्तर पर तीर्थ-श्रद्धा की व्यापकता के परिणामस्वरूप इन सभी तीर्थों में लौकिक-अलौकिक कारोबार पुष्पित पल्लवित हो रहा है। समाजशास्त्रीय नजरिये से सर्वाधिक रोचक बात यह है कि पिछले 800-1000 वर्षों से तो इस पवित्र धरती पर संयुक्त अवतारों का प्रचलन भी शुरू हो गया। शिरडी के साईं बाबा राजस्थान के पाबू, रामदेव इस अवधारणा के चंद उदाहरण हैं। सामयिक अनुभव के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि इस देश की धरती में तीर्थ सृजन की क्षमता अभी घटी नहीं है। श्री अरविंद की पोंडीचेरी, मद्रास के ही निकट महर्षि रमन की आश्रम-स्थली, स्वामी विवेकानन्द द्वारा स्थापित बेलूर मठ आदि बीसवीं सदी में विकसित अंतर्राष्ट्रीय तीर्थ हैं। बीसवीं सदी के इन ऋषियों का पुण्य प्रताप आंख से देखकर विश्वास करने जैसा पुण्यात्मक - तथ्यात्मक तीर्थ है। इस विश्वास के विस्तार में मानव कल्याण की ऊर्जा का एक नवीनतम स्रोत विद्यमान हैं इस

तथ्य की सार्थकता पर्यटन विभाग द्वारा प्रचारात्मक नारेबाजी में नहीं बल्कि राष्ट्रीयता की भावना को वास्तविक विश्व बंधुत्व में परिवर्तित करने के लिए है।

भारत, हिन्दुस्तान या दक्षिण एशिया

यह प्रत्यक्षतः प्रमाणित है कि आदिकाल से दक्षिण एशिया विश्वभर में पायी जाने वाली मानव की समस्त नृवंशीय जातियों का निजी घर हैं यदि थोड़ी देर के लिए उस 'इतिहास दर्शन' को, जो हमें पिछले 20 वर्षों में गुलामी के दौरान पढ़ाया गया है, भूल सकें तो इस तथ्य का प्रत्यक्ष दर्शन कर सकते हैं कि नीग्रो, आस्ट्रेलियायी, मंगोल, नोरडिक यह सभी भारत देश के समान रूप से मूल निवासी है। चंद तुर्की, इरानी, अफगान और मध्य एशियायी मुसलमान और पारसी (अन्य कोई मतावलंबी इसमें शामिल नहीं) को छोड़ कर एक भी जाति समूह या समुदाय ऐसा नहीं जिसकी विदेशी मूल की कोई धुंधली सी 'जाति स्मृति' भी हो। विस्तृत लोक साहित्य, भाट-चारणों की आदि परंपरा, और उपनिषद-रामायण से लेकर महाभारत, कालीदास तक श्रेष्ठ कोटि के संपूर्ण वांगमय में कहीं इक्का-दुक्का संदर्भ भी उपलब्ध नहीं जिससे यह प्रमाणित हो सके कि भारत के नोरडिक यूरोप से आये थे और नीग्रो अफ्रीका से। 'आधुनिकतावादी' विश्व दृष्टिकोण और 'इतिहासवादी' दर्शन के प्रभाववश यह बात सिर से भुलाई जा रही है कि भारत आदिकाल से कोल, किरात, किन्नर, भील, बानर, केवट, सुर-असुर, ब्राह्मण, क्षत्रिय, मंगोल, बल्लूच, अफगान और न जाने कितनी असंख्य जातियों, प्रजातियों, उपजातियों का देश हैं इस अनूठी भारतीय विलक्षणता के कारण ऐसी कोई सूरत नहीं जिसके रेखांकन में हिन्दू-भारतीय या दक्षिण एशियायी की अनेक स्तरीय बहुलता और वैविध्य को किसी एक पंथ या संप्रदाय की परिभाषा के तहत संगठित करके 'हिन्दू राष्ट्र' जैसी किसी कल्पना को साकार कर लिया जाय, जैसा कि यूरोप में हिटलर ने और हिन्दुस्तान में जिन्नाह ने करके भी दिखाया है। लेकिन 'हिटलर' और 'जिन्नाह' की धारा चलती है तो दो जर्मनी, दो हिन्दुस्तान, दो पाकिस्तान बनते हैं जुड़ते नहीं।

किंतु इसके विपरीत समस्त हिन्दुस्तानी, भारतीय या दक्षिण एशियायी जन उस अकेली स्थली के बाशिंदे हैं जहां सदा सर्वदा से इंसान की समस्त नृवंशीय जातियां पली, पनपी और विभिन्न जातीय स्वरूपों में मिश्रित होकर विकसित हुयी। हिन्दुस्तान को छोड़ कर धरती का एक भी कोना या ठिकाना ऐसा नहीं जहां दो से अधिक मानव प्रजातियां वहां की मूल निवासी होने का दावा कर सकें। भारतवर्ष 20 महानदी घाटियों का देश है – हिमालय से कन्याकुमारी तक ये महानदियां हजारों सहायक नदी नालों का जल लेकर समुद्र तक जाती हैं। इन नदी घाटियों में सैकड़ों-हजारों सभ्यताएं, संस्कृतियां जन्मी, पली और विलीन होती रही हैं। करोड़ों वर्ष की इस समुचित प्रक्रिया का नाम हिन्दुस्तान है न कि सिर्फ उस धरा का जो कि 200 वर्ष की गुलामी के दौरान हमने ओढ़ ली।

गौरतलब मुद्दा यह है कि इसी हिन्दुस्तान के उस हिस्से में जहां मोहम्मद अली जिन्नाह ने एक संप्रदाय के आधार पर 'राष्ट्र' निर्माण का प्रयोग किया – उस देश, खंड एवं काल का इतिहास हमारे सामने है। हिन्दुस्तान से पाकिस्तान और पाकिस्तान से बांग्लादेश का विभाजन कोई अनहोनी जैसा नहीं हुआ। एकीकृत संगठित सांप्रदायिकता हिन्दुस्तान के किसी भी हिस्से में 'राष्ट्र' का आधार नहीं बन सकती। अगर ऐसा संभव होता तो मुसलमान और मुगल बादशाह 'हिन्दुस्तान' की बादशाहत न कायम करते और मुगलिया सल्तनत का नाम ही 'पाकिस्तान' हुआ होता। जब हिन्दुस्तान में पाकिस्तान बनाने का प्रयास हुआ तो उसके कारण-परिणाम दोनों से हम अवगत हैं। मुगलिया सल्तनत का पतन तो शायद पुरानी बात हो गयी, लेकिन सिंध, बलूच और पख्तून के 'राष्ट्रवादी' प्रयासों की खबर तो हमारे अतिवादियों को होनी चाहिए। यह तथ्य इतिहास प्रमाणित है कि किसी भी एकल-एकीकृत संप्रदायवादी राष्ट्रीय परिभाषा का प्रयास भारत राष्ट्र संघ को तोड़ तो सकता है, जोड़ नहीं सकता। पहले पाकिस्तान और उसके बाद बांग्लादेश का जन्म इस तथ्य का प्रत्यक्ष प्रमाण है। इक्कीसवीं सदी में हिन्दुस्तानी को अपने दिल और दिमाग का दायरा न्यूनतम दक्षिण-एशिया की सरहदों तक विस्तृत करना होगा। वास्तव में हमारा सांस्कृतिक एवं आर्थिक प्रभाव उत्तर में मध्य एशिया यानि बाबर के पैतृक घर तक, पश्चिम में ईसा के जन्म स्थान तक और दक्षिण पूर्व में मलेशिया तक विस्तृत है। आर्थिक-सांस्कृतिक मानस के ऐसे विस्तार से ही हम अपनी गृहनीति, सुरक्षानीति और विज्ञान विकासनीति निर्धारण की क्षमता हासिल कर सकेंगे।

दक्षिण एशिया के भूगोल की संरचना ही कुछ ऐसी है कि भारत के लिए अकेले समृद्ध और संपन्न हो जाना संभव नहीं। अंतर्राष्ट्रीय समृद्धि की जिस दौड़ में हिन्दुस्तान हिस्सा लेना चाहता है वह तभी संभव होगा जब समस्त दक्षिण एशिया में स्थायी अमन कायम हो। हिमालय की चोटियों और विशाल पर्वत श्रृंखला के दक्षिणी टाल ने समस्त दक्षिण एशिया के भूगोल और पारिस्थितिकी को ऐसी एकता के सूत्र में बांधा है कि उसे नकार कर नेपाल, हिन्दुस्तान, पाकिस्तान, बांग्लादेश आदि सर्वांगीण प्रगति के रास्ते चल ही नहीं सकते। दक्षिण एशिया की समृद्धि का एकमात्र आधार इस क्षेत्र की एक कौड़ी महानदी घाटियों में उपलब्ध जल और मिट्टी को संजोने, संवारने से ही संभव हो सकता है समूचे क्षेत्र में यदि प्यास और भूखमरी से लड़ना है तो क्षेत्रीय – सहकार के अलावा कोई मार्ग नहीं।

आगामी 100-200 वर्ष में ऐसा हो सकता है कि हिंदू धर्म का ऐसा उदार-उदात्त-बहुमुखी- बहुलवादी (जो आदि वैदिक हिन्दू धर्म की मूल परंपरा है) सांस्कृतिक, सामाजिक विकास और विस्तार हो जाय कि समस्त दक्षिण एशिया वासियों को हिन्दू या हिन्दुस्तानी कहलाने में गौरव का अनुभव होने लगे और इस क्षेत्र के मतावलंबी भी अपने को 'आदि हिन्दू' जैसी किसी भौगोलिक-सांस्कृतिक संज्ञा से संबोधित करने लगे। इस स्पष्ट को संजोने की संभावना उस परंपरावादी हिंदुत्व की धारा में तो है

जो 16वीं-17वीं सदी तक विकसित हो रही थी – किंतु उस टोडी विचारधारा में नहीं है जिसे हमने खंडन-मंडन की परंपरा के आधार पर 19वीं सदी में 'हिन्दुत्व' और सनातन वैदिक का पर्याय मान लिया।

'हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तानी' की बात बिल्कुल नयी और अटपटी नहीं। पिछली सदी के उत्तरार्ध और 20वीं सदी के शुरु में चंद लम्हों में ऐसा हुआ भी था। 'हम सब हिन्दुस्तानी' की अवधारणा को बहादूरशाह जफर के नेतृत्व में सभी कौमों ने स्वीकार किया था। इकबाल का प्रसिद्ध तराना 'हिन्दोस्तां हमारा' उसी युग और धारा की कृति है। हठधर्मिता के आधार पर जल्दबाजी में भारत या हिन्दू राष्ट्र टूट तो सकता है किंतु बन नहीं सकता। यह काम सिर्फ धैर्य और आचरण एवं वाणी के संयम से ही सिद्ध होगा। अखंड भारत का विस्तार करके हिन्द-पाक एका नहीं किया जा सकता। हिन्द-पाक एके का विज्ञान धैर्य और धरती की आदि संस्कृति से उपजेगा। नदी-घाटियों के संयुक्त कार्यक्रम से उपजेगा। कश्मीर में हिन्द फौज की उपस्थिति लेजिटीमाइज करके नहीं। हिन्द-पाक एके का विज्ञान और वातावरण काफी पेचीदा तर्क शैली से निर्मित होगा, विचार-विनिमय की आधुनिक सादगी से नहीं। पुरातन पेचीदा तर्क शैली विकसित करने की पहली शर्त यह है कि भारत की आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक गत्यात्मकता में ऐसी रफ्तार आये कि समूचे बंगलादेशी, पाकिस्तानी, अफगानी, बर्मी, नेपाली, भूटानी और श्रीलंकाई नागरिकों को हिन्दुस्तान सहजभाव से आत्मसात कर सके। 25-50 लाख बंगलादेशी मुसलमानों को वापस भेजने का नारा लगाने वालों को 'अखंड भारत' वाली भारत माता की ममता की कद्र करनी सीखनी होगी – बड़े भाई के घर की बची-खुची रोटी से छोटे भाई का परिवार आधा पेट भोजन कर लेता है, इसलिए बचा-खुचा अन्न नाली में बहा देना होगा – ऐसे आचरण से अखंड भारत नहीं बनेगा। बंगलादेशी, हिन्दुस्तान में बर्तन मांजने और साइकिल रिक्शा चलाने के अतिरिक्त यहां के नागरिकों का क्या छीन लेते हैं। अखंड भारत का निर्माण उसी दिन शुरू होगा जिस दिन दक्षिण एशिया का प्रत्येक नागरिक भारत मां की गोद में अपने अस्तित्व और अस्मिता को महफूज मानने लगेगा। टूटे हुए परिवार वहीं वापस जुड़ते हैं जहां बड़ा भाई थोड़ा अपमान सहकर भी छोटे भाईयों की मान-मर्यादा को महत्त्व देता है और गुरबत में भी आधी रोटी बांट कर खाने की मंशा रखता है। 'अखंड भारत' की नदियों की एकता तभी कायम होगी जब दिलों की एकता का वातावरण कायम होगा।

तीर्थ और भारतीय एकता

हिन्दू और भारतीय बहुलता को एकता में बांधने के लिए सनातन पौराणिक मान्यताओं से उपजी तीर्थ परंपरा के आधार पर तो उस चिंतन और 'विश्व दृष्टिकोण' को विकसित किया जा सकता है (जो हजारों लाखों वर्ष से था भी) जिसके माध्यम से हिन्दुस्तानी संस्कृति का वह आधार सूत्र (धुरी, धर्मकांटा या

फलक्रम) निर्धारित किया जा सके, जिस पर हिन्दू, भारतीय, हिन्दुस्तानी, पारसी, सिख, ईसाई, मुसलमान, पंजाबी, पत्रतून, सिंधी, द्रविड़, मंगोल, बांग्ला, उड़िया, कन्नड़, मलयाली, सैकड़ों आदिवासी प्रजातियां, आर्य, नगरीय, ग्रामीण, बनवासी, आदि अनेक वैविध्यों का संतुलन कायम हो जाये। नव हिन्दू या आधुनिकतावादी हिन्दू की औपनिवेशिक मानसिक संकीर्णता (जो हिन्दू धर्म—पुराण को कार्बन डेटिंग से प्रमाणित करने पर तुली है) का मुकाबला अति आधुनिकता या 'धर्म—निरपेक्षता' के ढकोसले से नहीं किया जा सकता। कच्छ की धरती पर इस सत्य को प्रामाणिक रूप में देखा जा सकता है कि पानी को बांधों से रोक कर और 'डेरी विकास' से आजीविका के स्रोत सिर्फ नष्ट किये जा सकते हैं। आधुनिक विकास का छोटे से छोटा रूप भी गोबंश—संवर्द्धन का विरोधी है, और व्यापक रूप से व्याप्त कुपोषण का मुकाबला विटामिन की गोली बांट कर नहीं किया जा सकता। अलबत्ता कासिम खां मालधारी जिस कुदरती कानून की बात कर रहे हैं, उसमें जरूर यह संभावना है कि कच्छ और मारवाड़ में व्याप्त भूख से जो मौत और बीमारी का प्रकोप है उससे छुटकारा पाया जा सके। ट्रैक्टर की कृषि का विकास और गोरक्षा साथ—साथ नहीं चल सकते। घर—घर तक गोपालन की संस्कृति का तभी विकास हो सकता है जब आमजन गोसेवा और तीर्थ पुण्य के संयुक्त स्वरूप और समग्र दर्शन को पहचानने में समर्थ हो जायें।

आधुनिक वस्तु विज्ञान एवं उसके चमत्कारों का दंभ काफी खोटा है। ऐलोपैथी दवा और विटामिन की गोलियों का प्रयोग तभी संभव है जब पेट में संतुलित समग्र आहार हो वरन् ऐलोपैथिक दवाएं बीमार को अधिक बीमार बनाती हैं या अंतिम मुक्ति थोड़ी शीघ्रता से दिला देती है। यह आधुनिक वस्तु विज्ञान केवल गौण कारणों पर ही प्रकाश डाल सकता है — उसकी आदि एवं अंतिम परिणति पर मूक ही रहता है। यह अकस्मात् नहीं हुआ कि आज संपूर्ण मानव समाज 'आदर्शहीनता' के जाल में फंस गया है युरोपीय मानव की सर्वशक्तिमान बनने की इच्छा और प्रेरणा से आधुनिक वस्तु विज्ञान का जन्म हुआ है। इसी के परिणामस्वरूप आधुनिक विज्ञान ने मानव को सर्वशक्तिमान होने का दंभ दिया है यह खोटा दंभ कि वह सब कुछ जानता है, और सब कुछ जान सकता है, और सब कुछ कर सकता है, ही मानव की आदर्शहीनता का मूलाधार है। इसी 'वैज्ञानिक दंभ' की विवशता है कि मानवता की अनादि अनंत धारा को पांच—दस हजार साल के इतिहास में सीमित कर दिया जाये। इस संदर्भ में यह बात निरंतर भुलाई जा रही है कि अनंत में अकिंचन और क्षणभंगुर होने का सतत् एहसास ही आदर्शवादिता और मानवीय नैतिकता का आधार हो सकता है। अकिंचन की नैतिकता मानव जीवन की निरंतरता के लए आवश्यक परिस्थिति है। इस अकिंचन की नैतिकता के अभाव में वहीं होता है जो पिछले 500 वर्ष से यूरोप और अमरीका में निरंतर हो रहा है।

आधुनिक यूरोप और यूरोपवासियों द्वारा कब्जा किया हुआ अमरीका और अस्ट्रेलिया पिछले 500 वर्ष से और आज भी जिस जातीय घृणा, नस्लीय हिंसा के दौर से गुजरे हैं और गुजर रहे हैं, वह इस तथ्य का पर्याप्त प्रमाण है कि आधुनिक विकास और विकासवादी विज्ञान कितना भी खरा क्यों न हो मानवतावादी राष्ट्रीयता का आधार नहीं बन सकता। अमरीका और आस्ट्रेलिया के निवासी अपने घर और देश में आज तक समान नागरिक भी नहीं। यूरोप या अमरीका जाने की जरूरत नहीं – अपने गरेबान में णंक कर देखें तो शर्मने की काफी गुंजाइश है 6 दिसंबर 1992 को घटित अयोध्या विध्वंस कांड की क्रियान्वित के लिए जिस तरह से देशव्यापी स्तर पर जातीय एवं सांप्रदायिक हिंसा को भड़काया गया और विध्वंस के बाद आधुनिक हिन्दुस्तानी ने जो वैमनस्यपूर्ण भाव प्रदर्शित किया है वह बहुत ही खतरनाक भविष्य को इंगित करता है यह पूरा हादसा भारत राष्ट्र के विश्वंस के संकेत तो देता है, दक्षिण एशिया में किसी संयुक्त राज्य निर्माण के नहीं। दक्षिण एशिया में सहयोग संघ स्थापित करने की समुचित जिम्मेदारी पूर्णतया हिन्दुस्तान की है। इसकी सर्वाधिक आवश्यकता भी हिन्दुस्तान को ही है। दक्षिण एशिया में स्थायी अमन हिन्दुस्तान की समृद्धि की पहली शर्त है ऐसे अमन को कायम करने के लिए जिस पारस्परिक विश्वास की जरूरत है उसकी पहल हिन्दुस्तान को करनी होगी। इस पहल में जितनी देर होगी उतना हिन्दुस्तान पिछड़ जाएगा। दक्षिण एशिया की एकता का आधार हिमालय के जल स्रोतों की पवित्रता को पुनः स्थापित करने में निहित है। हिमालय की दक्षिणी पारिस्थितिकी के समस्त जल की एकता ही दक्षिण एशिया की एकता केंद्र बिन्दु है। यह बात स्पष्टता से समझनी होगी कि पानी को बांट कर पानी की व्यवस्था (विकास) नहीं की जा सकती। किसी भी नदी घाटी का जल आदि स्रोत से लेकर डेल्टा तक एक समग्रता लिए होता है किसी भी नदी घाटी के जल की समग्रता को टुकड़ों में बांट कर विकसित नहीं किया जा सकता। दक्षिण एशिया के जल को तो किसी भी तरह टुकड़ों में बांटा ही नहीं जा सकता। दक्षिण एशिया की प्यास और भूख का समाधान भी टुकड़ों में बांट कर नहीं किया जा सकता। दक्षिण एशिया के जल संरक्षण की व्यवस्था का आयोजन समग्र दृष्टिकोण पर आधारित होगा। हिन्दू-पाक एका या दक्षिण एशिया महासंघ की आवश्यकता किसलिए है? पिछली 50-100 पीढ़ियों का वैर चुकाने के लिए या मानवता के विकास के लिए।

अध्यात्म से उपजी तीर्थ भावना निश्चित ही राष्ट्रीय नव निर्माण की ऊर्जा का स्रोत बन सकती है। किंतु तीर्थों के प्रति हिन्दू विश्वास और आस्था को भड़का कर सांप्रदायिक वैमनस्य को तूल देने का कार्यक्रम बहुत ही संगठित रूप से चलाया जा रहा है। टोडी प्रचारकों ने कार्यशैली में हिटलर के प्रचारमंत्री गोअबल्लस को पीछे छोड़ दिया है। जिस ऊर्जा के सदुपयोग से राष्ट्र निर्माण और शासन एवं उत्पादन व्यवस्थाओं का नवीनीकरण किया जा सकता था उसी का दुरुपयोग कर राष्ट्र की एकता को तोड़ने का कार्यक्रम चलाया जा रहा है हिन्दू की तीर्थ आस्था के माध्यम से समाज की सर्वजातीय – सामुदायिक

सामर्थ्य को जागृत किया जा सकता है। स्वच्छ जल की आवश्यकता सभी को है, लेकिन इस आस्था और ऊर्जा का सदुपयोग तीर्थ के जल को निर्मल बनाने के लिए नहीं किया जा रहा है, तिस पर झूठ की सीमा यह है कि 6 दिसंबर को अयोध्या स्थित आस्था-स्थल का विध्वंस 'आकस्मिक भावावेश' का परिणाम था न कि उस दीर्घकालीन भड़काऊ प्रचारतंत्र का जो संघ परिवार के ऋतंभरा देवी और उमा भारती जैसे कार्यकर्ताओं ने श्री लालकृष्ण आडवाणी के नेतृत्व में पिछले चार वर्षों में खड़ा किया था। हिन्दू को स्वयं गंभीरता से विचार करना होगा कि उसकी तीर्थ आस्था का क्या उपयोग किया जाये। इस विलक्षण लौकिक परंपरा में मानवतावादी पुनर्स्थापना और राष्ट्र निर्माण की असंख्य संभावनाओं का स्रोत विद्यमान हैं। तीर्थ परंपरा और पौराणिक सनातन धर्म के विकास और विस्तार से जो सामुदायिक ऊर्जा जागृत होगी उसके उपयोग से असंख्य स्वतःस्फूर्त संस्थाओं का नवीनीकरण और निर्माण किया जा सकेगा।

तीर्थ स्थलों का स्वच्छ, सुंदर, स्वस्थ नगरीकरण और इन पवित्र पावन रमणीक स्थानों पर उपलब्ध जलस्रोतों का निर्मलीकरण इतना अहम् और व्यापक कार्यक्रम है कि इसके माध्यम से भारत गणराज्य की पुख्ता संरचना और देश के समस्त उत्पादक स्रोतों का नवीनीकरण दोनों ही सहज संभव हैं। 'आधुनिकीकरण' की जो ललक पिछले 200 वर्ष से छलावा बनी खड़ी, देश को निरंतर नयी गुलामी तरफ ढकेल रही है, वह तीर्थ परंपरा के उद्धार और नवीनीकरण से यथार्थ में बदल सकती है और नयी एवं पुरानी – दोनों गुलामियों से सहज ही मुक्त करा सकती है। राष्ट्रीय दुर्भाग्य से आज इस अनंत ऊर्जा का दुरुपयोग राष्ट्रध्वंस और पिछलग्गू मानसिकता के विस्तार के लिए हो रहा है।

मास्टर मनफूल सिंह की ऊर्जा का उपयोग और कुंठा के परिमार्जन के लिए 'ऐतिहासिक वैर' का कार्यक्रम अनुपयुक्त ही नहीं बल्कि विनाशकारी है। दलित और मध्य जातियों का वास्तविक सुसंस्कृतिकरण तो भक्ति और तीर्थ की परंपराओं के व्यापक नवीनीकरण से ही संभव हैं आज परंपरा को रूढ़ि बनाने का समय नहीं है, बल्कि संस्कृति और धर्माचरण के विस्तार से उस जागृति निर्माण का है जिससे हिन्दुस्तान के 80 प्रतिशत आमजन को पीने के लिए स्वच्छ जल, खेती के लिए पर्याप्त नमी और अन्य आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन के लिए समुचित विद्युत ऊर्जा नितांत स्थानीय सीनीय स्रोतों से उपलब्ध हो सके। इस तथ्य में न अतिशयोक्ति है न व्यंजना कि जिस सामाजिक ऊर्जा प्रयोग मस्जिद ध्वंस के लिए किया गया, उसी ऊर्जा के उपयोग से करोड़ों जन के लिए उपलब्ध जल स्रोतों का निर्मलीकरण किया जा सकता है। ऐसे सकारात्मक प्रयोग में से राजनीतिक सत्ता तो स्वतः ही उपजती। लेकिन इस मुद्दे पर तो विचार ही नहीं किया जाता कि संघ परिवार मस्जिद तो आसानी से तोड़ सकता है, किंतु स्वदेशी के आंदोलन का तो मामूली सा ढकोसला खड़ा करने में भी असमर्थ है। आखिर ऐसा है तो क्यों? सामाजिक ऊर्जा का सकारात्मक उपयोग थोड़ी कठिन प्रक्रिया है। आज हिन्दुस्तान का

प्रत्येक गांव, कस्बा और नगर प्यासा है — जो जल शुद्ध रूप में उपलब्ध होकर प्यास बुझा सकता है वही दूषित रूप में असंख्य बीमारियां और उनके किटाणु पैदा कर रहा हैं जिस ऊर्जा से मस्जिद तोड़ रहे हैं वही ऊर्जा जल यानि तीर्थ की पवित्रता को सुरक्षित करने के लिए उपयोग में लायी जा सकती है ।

एक असफल प्रयोग

भक्ति और तीर्थ की परंपरा में निहित लौकिक—अलौकिक ऊर्जा के सदुपयोग का एक संक्षिप्त प्रयोग आजादी के तत्काल बाद गुलजारी लाल नन्दा ने अर्द्धसरकारी स्तर पर 1952—53 में किया था । किंतु सीमित दृष्टि व विस्तृत कार्य योजना के अभाववश 'भारत साधु समाज' को नव निर्माण की ऊर्जा के रूप में संगठित करने का प्रयास छिटपुट प्रयोगों के साथ सिमट गया । विडम्बना तो यह रही कि फैंशनेबिल 'आधुनिकीकरण' की अंधी दौड़ में शामिल रहने के कारण इस सामाजिक ऊर्जा के व्यापक एवं अनंत स्रोत की तरफ से राष्ट्र का ध्यान ही हट गया और 1966 आते—आते संघ परिवार ने गऊ माता के नाम पर इस ऊर्जा का व्यापक दुरुपयोग शुरू कर दिया । 7 नवंबर 1966 के बाद से गाय—संस्कृति दिन प्रतिदिन सिकुड़ रही है, साधु समाज का दुरुपयोग बढ़ रहा हैं संघ परिवार मूलतः भारतीय टोडी मानस का प्रतिनिधित्व करता है । इस मानसिकता का ही यह नतीजा है कि वह आधुनिकतावादी लौकिकता के दोष तो देख सकता है किंतु आदि वैदिक और 'आधुनिक हिन्दुत्व' के काले सफेद अंतर को नहीं पहचान सकता । यही कारण है कि संघ परिवार द्वारा आयोजित गोरक्षा आंदोलन के परिणामस्वरूप आज गऊ—भक्त भारत देश में पारिवारिक एवं सामुदायिक स्तर पर गोसेवा की परंपरा में नित प्रति ह्रांस हो रहा है, और गोरक्षा के नाम पर दुराचारी प्रवृत्ति के 'आचार्य' राष्ट्र को उपदेश भी दे रहे हैं और आधुनिक पंचसितारा संस्कृति का उपभोग भी कर रहे हैं । संस्कृति के मूल स्वर और भारत देश में गो—रक्षा के विज्ञान की बातों को छछला ग्राम के कासिम खां से ही सीखना होगा । आजादी के तत्काल बाद से पिछले दशकों में गाय को भैंस और बकरी ने बड़ी तेजी से विस्थापित कर दिया ऐसा क्यों हो रहा है? इस तथ्य को जानने और समझने के लिए जो विवेक चाहिए उसकी धर्म—शिक्षा कासिम खां के चरणों में बैठ कर ही सीखी जा सकती है, संसद के चौराहे और सरयू के तट पर हिंसा का षड्यंत्र रचकर नहीं ।

पिछले 200 वर्ष से धीरे—धीरे और आजादी के बाद बहुत तेजी से तीर्थ स्वस्थ आध्यात्मिक केंद्रों की बजाय बाजारू 'पोपलीला' के स्थलों की तरह विकसित होते रहे । नतीजा सामने है कि पुण्य पावन तीर्थ स्थान न तो आज नैसर्गिक सौंदर्य के प्रतीक हैं और न ही पुण्य प्रेरणा के स्रोत । आज तीर्थ वास्तव में पौराणिक नर्क की कल्पना का पर्याय बन गये हैं । इस परिस्थिति में अनिवार्य है कि तीर्थ पुनरुद्धार कार्यक्रम को लोकधर्मी—लोकाचरण के आधार पर प्रारंभ करने का प्रयास करना चाहिए, वरन् टोडी

मानसिकता पर टिके 'औपनिवेशिक हिन्दुत्व' से ओत-प्रोत मानस के कारण अधिकांश धार्मिक अखाड़े, स्थल, साधु संघ, मठ आदि राष्ट्र ध्वंस की दिशा में इतना आगे बढ़ जायेंगे कि किसी बड़े नुकसान से पहले वापस लौटना संभव नहीं होगा। राष्ट्रीय समाज का बड़ी मात्रा में अहित हो भी चुका है अब जो कुछ बचा है उसे सुरक्षित करने का प्रयास तत्काल शुरू होना चाहिए और इस प्रयास की शुरुआत के लिए काशी या मथुरा जाने की जरूरत नहीं है – अपने निजी घर मोहल्ले और नगर की सफाई एवं जल पूर्ति और निकासी की समुचित-यथोचित व्यवस्था आयोजित करने से ही व्यापक तीर्थ पुरुद्धार का कार्यक्रम शुरू हो सकेगा।

इस कार्यक्रम में निजी गृहस्थी के कूड़े-कर्कट और गंदे पानी की निकासी की यथोचित व्यवस्था सर्वाधिक महत्वपूर्ण मुद्दा है। भारत देश की टोडी मानसिकता का सर्वाधिक महत्वपूर्ण लक्षण घर से लेकर समूचे देश का कचरा-फेंकने के प्रति सामुदायिक उदासीनता है गनीमत यही है कि राजनीति और प्रशासन में भी 'गुलाम प्रवृत्ति' की व्याप्ति के कारण हमारे देश में कंगाली और जिल्लत की पराकाष्ठा है – एक बहुत बड़ा तबका अपना आधा पेट रोटी कमाने के लिए कचरा बीनने का काम करता है। जिसके परिणामस्वरूप काफी बड़ी मात्रा में कागज, प्लास्टिक और टिन स्वयमेव उठ जाता है, वरन् पूरे देश में कचरे के ढेरों के ढेर अंबा लग जायें। कचरे और मल-मूत्र आदि के गंदे पानी की यथोचित व्यवस्था के प्रति भारतीय उदासीनता हमारी आधुनिकता की विलक्षण पहचान है। गरीब, अमीर, साक्षर, निरक्षर, ग्रामीण, शहरी, सरकारी, गैरसरकारी, यानि समस्तजन में यह विलक्षणता समान रूप से पायी जाती है। विश्व बैंक आदि जैसे संगठनों के व्यवसायिक दबाव के कारण राष्ट्र एवं प्रांतीय स्तर तक समूचे देश में प्रदूषण बोर्ड-मंडल आदि का गठन हो चुका है मगर हमारी सिफत और फितरत का क्या कहना – यह बोर्ड बौर मंडल पूरी लगन के साथ भ्रष्टाचार को बढ़ाने में संलग्न है। प्रदूषण और पर्यावरण के मुद्दे पर हजारों स्वैच्छिक संस्थाओं का निर्माण देश भर में हुआ है – संभवतः लाखों कार्यकर्त्तों की आजीविका प्रदूषण के नाम से चल रही – लेकिन प्रत्येक भारतीय गंदगी और नाक पर रुमाल रखने जैसी सड़ांध के प्रति अपनी उदासीनता पर गर्व कर सकता है। इसी गौरव के नारे देश भर की दीवारों का सौंदर्य बढ़ा रहे हैं। कूड़े-कचरे के पहाड़ जैसे ढेरों के नीचे जब राष्ट्रीय गौरव दब जाता है तभी यह अनिवार्य होता है कि 'ऐतिहासिक वैर' के माध्यम से उस गौरव को पुनः प्राप्त करें क्योंकि कचरे के अम्बार का कारण भी ऐतिहासिक परिस्थितियों में ही निहित होता है। कूड़े को ठिकाने लगाने के सामर्थ्य और विवेक का जब अभाव होता है, जब तीर्थों के जल में विष्टा फूलों की तरह तैरती रहती है, तभी गदा, फरसा ारी संहारक राम अवतरित होते हैं और इबादत घर को तहस-नहस करने के वास्ते 'आकस्मिक भाव-भेष का सृजन होता है

अनेक नगर निगमों ने कचरा ठिकाने लगाने के लिए अंतर्राष्ट्रीय तकनीक का आयाता किया है सिर्फ इसलिए कि कचरे की सहज व्यवस्था में कोई धंध-पानी संभव नहीं। यह सरल बात है कि कचरा-गंदगी नियंत्रण की व्यवस्था घर से शुरू करनी होगी। घर में चार-पांच तरह का कूड़ा होता और दो-तीन प्रकार का गंदा पानी। घरेलू कचरे को उसकी प्रवृत्ति के अनुसार अलग-अलग कड़ेदान में एकत्रित करवाना होगा। घर में एकत्रित कूड़े को सामूहिक-सामुदायिक स्तर पर एकत्रित करवा कर पुनरुपयोग के लिए उचित ठिकाने पर पहुंचाना होगा। इसके बाद ही तकनीक आदि के सवाल उत्पन्न हो सकते हैं। क्या गोभक्त देश में इतना भी संभव नहीं है कि कपड़ा, कागज और प्लास्टिक जैसे अरवाद्य पदार्थ गऊ मां के खाने के लिए सहज उपलब्ध न रहें। शहरों की 'भूखी' गांय जिस तरह अनेक अखाद्य कूड़े-ककट के साथ-साथ कपड़ा (सूती-सिंथैटिक दोनों तरह का), कागज, प्लास्टिक की थैलियां आदि खा रही है यह पूरे गोवंश के लिए गंभीर रूप से हानिकारक है। उपयोग में आ चुके पानी को भी तीन हिस्सों में बांटा जा सकता है

1. बासी किंतु शुद्ध ऐसा पानी जिससे घर-आंगन में तुलसी, गुलाब, मोतिया, तोरी, सेम, एकाध फल वृक्ष को सिंचित किया जा सके। घर में कच्चे आंगन की कमी हो तो भी छोटे बड़े गमले रखे जा सकते हैं।
2. रसोई-स्नान आदि के उपयोग में आया ऐसा जल जिससे मौहल्ले के उद्यान - घर के निकटतम क्षेत्र में - सार्वजनिक उद्यान में घास और नीम आदि के वृक्षों की सिंचाई की जा सके।
3. ऐसा जल जो संडास से मल आदि की सफाई करता है - और सामुदायिक गटर के द्वारा ऐसे कारखाने तक पहुंचाया जाय जहां विष्ठा की गैस को ऊर्जा में परिवर्तित किया जा सके और ठोस पदार्थ को खाद बनाया जा सके और अर्द्ध-शुद्ध जल को खेतों की सिंचाई के लिए उपयोग में लाया जा सके।

उपयोग में आ चुके पानी की यथोचित निकासी और अन्य कचरे की समुचित सफाई के प्रति हमारा उदासीन रवैया हिन्दुस्तान में प्रदूषित वातावरण जलवयायु और प्रदूषण से उत्पन्न अनेक बीमारियों के मुख्य स्रोत है। अपने घर के आस-पास की गंदगी के प्रति नागरिक उदासीनता के कारण हमारे गांव और नगर, जिनमें हमारे प्राचीनतम पवित्र तीर्थ शामिल हैं, सर्वत्र फैली विष्ठा से निरंतर उठती दुर्गंध के प्रतीक बन गये हैं। 'हिन्दू-आधुनिकता' के परिवेश मलमूत्र और उपयोग में आये पानी की जो भी व्यवस्था आयोजित की जा रही वह इतनी प्रदूषणकारी और भयानक है कि एक ईंच भूमि और एक बूंद जल भी शुद्ध नहीं बचा। गंगोत्री में जितनी यात्रियों की संख्या बढ़ रही है उतना ही अधिक प्रदूषण गंगाजी में प्रवाहित हो रहा है। आज उत्तर काशी की गंगा में रात्रिमल-विष्ठा इस तरह तैरती मिलती है जैसे श्रद्धालुओं द्वारा चढ़ाए गए फूल हों। गो-मुख (गंगा का मूल स्रोत) के आस-पास सिंथैटिक

कचरे के अम्बार अटे पड़े हैं जिसकी चिंता विदेश मूल के पर्यावरणवादियों को तो है, मगर हमारे अपने हिन्दुत्ववादियों को नहीं। इस संदर्भ में सरकारी कार्यक्रमों का जो हश्र है वह सबके सामने हैं गंगा सफाई योजना के अंतर्गत सैकड़ों करोड़ रुपया व्यय करने के बाद काशी की गंगा छूने योग्य भी नहीं। जल, तीर्थ और गंगा के प्रदूषण तथा गो-वंश के सर्वनाश के प्रति यह 'हिन्दू उदासीनता' इसी तरह बनी रही तो हिन्दू संस्कृति, सभ्यता और वैदिक धर्म का लोप अब दूर नहीं। मानव धर्म की रक्षा के लिए आज यह अनिवार्य हो गया है कि गांव-गांव, नगर-नगर 'तीर्थ चेतना संघ' स्थापित किये जाये जो आम नागरिक के साथ जुड़कर घरेलू सामुदायिक कचरा, मलमूत्र एवं गंदे पानी की उपयुक्त एवं यथोचित निकासी और व्यवस्था के संदर्भ में स्वतःस्फूर्त लोक-शिक्षा का विकास करें। इस संदर्भ में सर्वाधिक नाजुक मसला गो-वंश की रक्षा का है। संघ परिवार की सत्ता लोलुपता की वजह से 'गो-रक्षा' का नारा वर्तमान में एक मिथ्याचारी राजनीति का मुद्दा बन कर रह गया है। वरन् कोई कारण नहीं कि संघ परिवार अपनी सामर्थ्य और जनशक्ति के सदुपयोग से गौ-वंश को कागज, सिंथैटिक कपड़ा और प्लास्टिक जैसा अखाद्य खाने से न बचा सके। 'गो-रक्षा' जैसे महत्वपूर्ण मुद्दे के माध्यम से 'हिन्दू' की भावना के कंधों पर चढ़कर संघ परिवार पांच प्रदेशों में राज कर रहा है और देश भर में 200 से अधिक म्युनिसिपल सरकारों में उसका नेतृत्व कायम है। किंतु कहीं भी 'गो-रक्षा' की अत्यंत नाजुक दृष्टि से शहरी कचरे को ठिकाने लगाने की व्यवस्था में कोई मामूली सुधार भी नहीं हुआ – बुनियादी परिवर्तन तो टोडी विवेक के परे मा मसला हैं परिप्रेक्ष्य और दृष्टि के संदर्भ में कांग्रेस और संघ में अंतर करना संभव नहीं। दिखावे के अंतर उतने ही हैं जितने एंग्लोफिल और टोडी में संभव है। संघी स्पष्ट रूप से गांधी विरोधी हैं और कांग्रेसी परोक्ष में। कांग्रेसी, गो-रक्षा के संदर्भ में कम, आचरण और व्यवहार के आधार पर यह तथ्य स्पष्टता से उजागर है कि संघ और कांग्रेस एक दूसरे के पर्याय हैं।

आधुनिक हिन्दू संभवतः यह भूल गया है कि गाय पूजनीय क्यों हैं? वैदिक-पौराणिक परंपरा में गाय को ब्राह्मण और तीर्थ दोनों से अधिक महत्वपूर्ण और पवित्र क्यों माना गया? समस्त सृष्टि परम पिता परमेश्वर की जिजमानी (त्याग-बलिदान-आत्मोसर्ग) का प्रतिफल है। इसलिए समस्त सृष्टि और प्राणिमात्र परम पिता परमेश्वर के ऋणी है। ऋण से उऋण होने की प्रक्रिया का नाम जिजमानी (यज्ञमानी) है। यज्ञोपवीत और चोटी जिजमानी (त्याग और बलिदान) की अनवरत प्रक्रिया की याद बनाए रखने और उसकी नियमित क्रियान्विति के प्रतीकात्मक चिन्ह हैं। जिजमानी आधारित सृष्टि में गाय परम पिता परमेश्वर के सदृश स्वयं जिजमान है – प्रकृति से जो कुछ लेती है उसे लाखों से गुणाकर वापिस करती है। गाय की यह अनवरत जिजमानी ही उसे पूज्य बनाती है। हिन्दू उन्हीं को पूजते हैं जिनके सदृश बनना चाहते हैं – हिन्दू धर्म में गाय और स्त्री (देवी) पूजा का यही महात्म्य है। यूं तो पौराणिक वांग्मय में यह भविष्यवाणी देखने को मिलती है कि कलियुग में मानव इतना नीच हो जाएगा कि भूखी

गाय को विष्ठा—मल खाकर जीवित रहना होगा। कलियुग की पहचान का एक लक्षण यही बताया गया है— 'कलियुग में गरु गू खाय' युग व क्षेत्र की कलियुगी पहचान यही है। आधुनिक भारत में गाय जो कुछ खा रही है वह विष्ठा से भी खतरनाक है। गो—रक्षा और तीर्थ की पवित्रता मानव और सृष्टि की अविरलता के लिए अनिवार्य हैं यदि कलियुगी भाव ही स्थायी आचरण बन जाएगा तो मानव सृष्टि की प्रलय निकट ही जाननी चाहिए।

नैतिकता बनाम आधुनिकता

इस संकट के दौर में आधुनिकतावादी जब कभी अपने 'नैतिकता विहीन' वर्तमान से त्रस्त होकर यह विचार करने का प्रयास करते हैं कि व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय जीवन से वह नैतिकता जिसका आधार मर्यादा और मानव गरिमा में था क्यों समाप्त हो गयी तो यह समझ पाने में असमर्थ होते हैं कि नैतिकता विज्ञान कोई निरपेक्ष अवधारणा या मूल्य नहीं — नैतिकता पूर्णतः सापेक्ष विज्ञान/विवेक हैं और कोई 'वस्तु विज्ञान' नैतिकता निरपेक्ष नहीं। प्रत्येक विज्ञान की आंतरिक तर्क व्यवस्था और गत्यात्मकता के विवेक से संबंधित निजी नैतिकता हैं। आधुनिक भौतिक—विज्ञान का तर्क और गत्यात्मकता ईश्वर के समकक्ष शक्तिमान बनने में निहित है। इस कारण 'प्रतिस्पर्धावादी' विकास और भोग—विलास (खुदा के राज जैसी अनंत उत्पादकता — अब्सोल्यूट अबंडेंस) की इच्छा को प्रज्वलित करना आधुनिक विज्ञान की नैतिकता हैं इस 'अनंत भोग—विलास' के आश्वासन पर ही आधुनिक विज्ञान का ढांचा खड़ा है। यही आश्वासन इस विज्ञान की दिशा—निर्धारण का प्रेरणा स्रोत हैं। भोग—विलास की असीमित संभावना ही आधुनिक विज्ञान की नैतिकता है, जो मूलतः 'आध्यात्म' विरोधी है और हमें अपने पूर्वाग्रहों के कारण अनैतिक प्रतीत होती है। यही ठीक वैसा ही है जैसे गांव से शहर आने पर गांव अनैतिक और शहर अनैतिक दिखायी देने लगता है। या शहर के लोगों को गांव अनैतिक दिखायी पड़ता है। हम अक्सर यह भूल जाते हैं कि गांव और शहर दो अलग व्यवस्थाएं हैं, और दोनों की निजी अनैतिकताएं हैं।

आमतौर पर हम जिस 'परंपरागत' नैतिकता का हवाला देते रहते हैं उसमें 'अकिंचन' का एहसास, सूक्ष्म से संतोष की अनुभूति और संपूर्ण आचरण में मर्यादा का अनुशासन जीवन के मूल तत्व हैं। जबकि 'आधुनिक—विज्ञानवादी' युग में सर्वशक्तिमान होने का एहसास और स्थायी असंतोष की भावना ही मूल प्रेरणा के स्रोत है। स्पर्धा—ईर्ष्या और भोग की नैतिकता के धरातल पर ही उस मानसिकता का उदय होता है जो हमें तरह—तरह की हिंसाओं के लिए प्रेरित करती है। किंतु असीमित भोग की लालसा और आग की तरह लपलपाती प्रतिस्पर्धा से उत्पन्न यह बहुआयामी हिंसा आधुनिकतावादी 'अनुदार' जगत की प्राथमिक नैतिकता है। आधुनिक विज्ञान के युग में पहली हिंसा 'मानव गरिमा' और 'मर्यादा के शील' की होती है। आधुनिक विकास और विज्ञान का विस्तार मूलतः प्रतिस्पर्धा की भावना को जागृत

करने पर निर्भर रहता है प्रतिस्पर्धा की प्रेरण और भोग की अभिलाषा से जो स्वभावगत कर्म और आचरण विकसित होता है वह हमें पूर्वागहों या 'परंपरागत' विचारों के प्रभाववश कभी—कभी अनैतिक भी प्रतीत होता रहता है हम यह तो सहज ही भूल जाते हैं कि प्रतिस्पर्धावादी संस्कृति—सभ्यता और मानव गरिमा या मर्यादा का शील मूलतः विरोधी अवधारणाएं हैं। और संग ही संग इस आशंका से भी घबराए रहते हैं कि आधुनिकता की मांग के साथ हिंसात्मक जीवन शैली का विकास जरा तेजी से हो रहा है। स्वभाव से मानव प्रकृति अहिंसावादी और शांतिप्रिय है— इसके विपरीत पश्चिम में उपजी आधुनिकता ओर उसका समस्त विज्ञान स्वभाव से अतिवादी और हिंसक है इस प्राथमिक विरोधाभास के कारण आधुनिक विज्ञान न तो मानव जीवन के उद्देश्यों को निर्धारित या प्रकाशित कर सकता है ओर न परंपरागत मानव गरिमा की नैतिकता को कायम रख सकता है।

आधुनिक विज्ञान से बिल्कुल विपरीत है तीर्थ विज्ञान और जिजमानी आचरण का आंतरिक तर्क। जिजमानी विद्या मर्यादित शील पर आधारित है इसलिए जीवन के उद्देश्यों को भी स्पष्ट करती है और ऐसे नैतिक मूल्यों का विकास भी जो मानव और सृष्टि की निरंतरता के लिए अनिवार्य हैं मानव गरिमा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए मर्यादित आचरण आवश्यक शर्त है। तीर्थ विज्ञान के विस्तार और विकास से ऐसी तकनीक भी विकसित की जा सकती है जो भौतिक समृद्धि के साथ—साथ परंपरागत नैतिकता को भी पोषित करें। लेकिन आधुनिक विज्ञान से न तो कोई नयी मानवतुल्य न्यायोचित सामाजिक व्यवस्था निर्मित की जा सकती है और न ही उस परंपरागत नैतिकता की ओर लौटा जा सकता है जिसे लुप्त होता देख कर हम हताश हो रहे हैं। और हताशावश आधुनिक विज्ञान के इस अंध विश्वास में फंस रहे हैं कि विज्ञान ने जो कुछ बिगाड़ा है वह विज्ञान स्वयं सुधार लेगा और एक दिन ऐसा स्वर्ग धरती पर उतर आयेगा जिएमें मानव असीमित भोग कर सकेगा। विडम्बना भी यही है कि हम आधुनिक विज्ञान की चकाचौंध से इस कदर अविभूत हैं कि आंखे खोलकर आगे मार्ग देखने में लगभग असमर्थ हैं।

चेतावनी

भूमितीर्थ और मानस तीर्थ के संयुक्त कर्म में ऐसी सामर्थ्य है जिससे समुचित, समग्र नवनिर्माण की योजना क्रियान्वित की जा सकती है। तीर्थ मात्र पृथ्वी की यात्रा का ही नहीं किंतु अंतरमन की यात्रा का पर्याय भी है। पौराणिक मान्यता है कि भौम तीर्थों के अतिरिक्त ऐसे सदाचार, शील—आचार भी हैं जिन्हें अलंकारिक रूप में मानस तीर्थ कहा जाता है। जैसे सत्य, क्षमा, इन्द्रिय संयम, सभी जीवात्माओं के प्रति बंधुत्व भाव, दान, आत्म निग्रह, संतोष, मृदुवाणी, ज्ञान आदि। पुराणों में यह स्पष्ट चेतावनी है कि जो लोभी, दुष्ट, क्रूर, प्रवंचक, कपटाचारी, विषयासक्त हैं, वे सभी तीर्थों में स्नान कर लेने पर भी अपवित्र रहते हैं, जैसे मगरमच्छ जल में जन्म लेते हैं वही मर जाते हैं और स्वर्ग नहीं जाते क्योंकि

उनके मन पवित्र नहीं होते। यदि मन शुद्ध नहीं है तो दान, तप, यज्ञ, स्वच्छता, यात्रा एवं विद्या को भी तीर्थ का पद नहीं प्राप्त हो सकता। आज विश्व को मानवीयता की ओर लौटने के लिए जिस सदाशयता और पारस्परिक मंगलकामना की आवश्यकता है उसके लिए तीर्थ विज्ञान और विश्वास की पुनर्स्मृति और पुनर्निर्माण के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं है। धरती को संपूर्ण विध्वंस से बचाने के लिए जितना अपरिग्रह की भावना को जागृत करना होगा वहां भी तीर्थ विश्वास और जिजमानी की परंपरा के बिना संभव नहीं।

टोडीवाद से मुक्ति का मार्ग

तीर्थ विज्ञान के रास्ते पर लौटने की पहल सिर्फ गांधी के देश में ही संभव है। गांधी ने आधुनिक सभ्यता को उसके व्यापक परिप्रेक्ष्य में पहचाना, समझा और आधुनिकता की शैतानियत के प्रत्युत्तर में मुक्ति के लिए 'हिन्द स्वराज' का मार्ग निर्धारित किया था। आज एक बार पुनः प्रत्येक हिन्दू-हिन्दुस्तानी को गुलाम मानसिकता से स्वतंत्र होने के लिए अंतराल की गहराइयों में उत्तर कर बहुत निर्ममता से निजी एवं सामुदायिक दोनों स्तर पर आधुनिकता (भोगवादी और उपयोगवादी दृष्टिकोण) का निरीक्षण करना होगा। किसी भी हिन्दू के लिए आधुनिक मानसिकता से मुक्ति के बिना तीर्थ निर्माण का मार्ग अपनाना संभव नहीं।

हमें यह निरंतर याद करना होगा कि आधुनिक-हिन्दू-मानसिकता का विकास प्लासी की हार के साथ शुरू हुआ था। सन् 1757 में प्लासी की हार के बाद केवल बंगाल की नवाबी का ही पतन नहीं हुआ, बल्कि संपूर्ण हिन्दुस्तानी सभ्यता एक अपूर्ण दबाव का शिकार हो गयी। प्लासी की हार वास्तव में साधारण नहीं थी। सौ-सवा सौ फिरंगियों ने बस दो हजार भडूतों के बंद पर लंबी-चौड़ी फौज को परास्त किया था। प्लासी में सिर्फ सिराजुद्दौला ही नहीं हारा था, बल्कि वह जगत सेठ भी हारा था जो समूची विलायती हुकूमत को खरीदने की हैसियत रखता था। जगत सेठ की हार प्रतीकात्मक स्तर पर उस हिन्दुस्तानी बनिये की हार थी जो वास्तव में विश्व व्यापार का नेतृत्व करते थे। इस पराजय के अनेक दीर्घगामी परिणामों में से एक यह भी था कि भारत देश में क्रमशः एक हीन-भावनाग्रस्त शहरी आधुनिक शिक्षित (इसमें नव-वेदांती शामिल हैं) तबका (वर्ग) विकसित हुआ जो जाने-अनजाने गुलाम मानसिकता का शिकार था। इसी तबके में अंग्रेज हुकमरान के साथ बराबरी की ललक और हिन्द-राष्ट्रीयता की भावना का समावेश भी था। यही शहरी 'शिक्षित' तबका समाज सुधार में और दो-तीन पीढ़ी बाद राष्ट्रीय आंदोलन में, फिरंगी प्रशासन की हिस्सेदारी में, स्वातंत्रयोत्तर राज नेतृत्व में, स्वतंत्र भारत के प्रशासन में, शिक्षा, समाज के अन्य सभी अंग और नवीन धार्मिक संगठनों की संरचना तक में पिछले 150-200 वर्ष से अग्रणी भूमिका का निर्वहन कर रहा है इस तबके की औपनिवेशिक मानसिकता - जीवन के हर क्षेत्र में 'टोडीवादी दृष्टिकोण' - और इस (मानसिकता) के प्रचार-प्रसार द्वारा संपूर्ण समाज पर पकड़ को

बहुत धैर्य और बारीकी से ही समझा जा सकता है। आज पूरा समाज देश इस तबके की गिरफ्त में है। और यह तबका पाश्चात्य औपनिवेशिक मानस से इस कदर ओत-प्रोत है कि 'भोगवादी विलास' के अतिरिक्त अन्य कुछ भी देख सकने में असमर्थ है। नेतृत्व और वैचारिक परावलंबन की इस कैद से मुक्ति का रास्ता सहज और सरल कदापि नहीं।

दक्षिण भारत, बंगाल और अवध के पतन का एक नतीजा यह हुआ कि भक्ति और सूफी आंदोलन से जो समन्वय, अंतर्चेतना और वैदिक लौकिकता के पुनरुज्जीवन की प्रक्रिया सनातन एवं पौराणिक धारा में सहज पनप रही थी वह अचानक अवरुद्ध हो गयी। भक्ति मार्ग की विभिन्न धाराओं के स्थान पर 'नव-हिन्दुत्व' की ऐसी औपनिवेशिक धाराओं का जन्म हुआ जिनका मूल स्रोत पश्चिमी सभ्यता और यूरोपीय इसाईयत से प्रतिस्पर्धा और प्रतिक्रियावादी नकल की संयुक्त प्रवृत्ति में था। इस प्रतिक्रिया में खंडन-मंडन की विवादवादी-वैमनस्यवादी विचार प्रणाली का उदय हुआ जिसके तहत 'गोरा बहादूर' या 'कंपनी बहादूर' की तरह नीतिज्ञ, समर्थ, उद्यमशील और निपुण बनने की इच्छा बलवती बनी। इस इच्छा की प्रेरणा से जिस 'प्रगतिशील, एकीकृत, संगठित, आक्राम वेदांतवादी विचारधाराओं का जन्म हुआ उसी मानसिक रोग का नामकरण है 'आधुनिक हिन्दुत्व' या 'टोडी हिन्दुत्व' – इस 'वैचारिक-क्रांति' का प्रभाव इतना सर्वग्राही था कि आज उसका अनुमान भी कठिन है। इस क्रांतिकारी दौर में एक धारा 'विशुद्ध-एंग्लोफिल्स' की भी निकली जिनमें कुछ स्पष्ट रूप से टोडी थे और कुछ परोक्ष रूप से। उदाहरण के लिए परोक्ष टोडियों में सर फिरोजशाह मेहता, मोहम्मद अली जिन्नाह, मोतीलाल नेहरू आदि की निगती की जा सकती है।

दीर्घकाल से 19वीं शताब्दि के मध्य तक 'हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्तानी' एक विस्तृत भौगोलिक सांस्कृतिक संज्ञा थी जो सभ्जी देशवासियों के लिए लगभग समान रूप से लागू होती थी। यह नीं भूलना चाहिए कि अंतिम मुगल सम्राट बहादुरशाह जफर हिन्दुस्तान का बादशाह था पाकिस्तान या मंगोलिया नहीं। 18वीं सदी के अंत तक और 19वीं सदी के भी पहले दो-तीन दशक तक फिरंगियों के लिए भी इंडिया कहे जाने वाले देश के लगभग सभी नागरिक हिन्दू थे। हमारे देश की खेती हिन्दू एग्रीकल्चर और अन्य कलायें और तकनीकी हिन्दू आर्ट्स एण्ड साईंसेज के नाम से प्रचलित थी। 17वीं, 18वीं, 19वीं सदी के फिरंगी विवरणों से इस तथ्य के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं कि वैदिक परम्पराओं के लिए हिन्दू नहीं 'ब्राह्मण' की संज्ञा की संज्ञा का प्रयोग किया जाता था और हिन्दू धर्म या संप्रदाय जैसी कोई अवधारणा इस देश में प्रचलित नहीं थी। 'हिन्दू अलजबरा' (बीजगणित) था, 'हिन्दू कागज' का 'हिन्दू जादू' था। लेकिन हिन्दू धर्म या हिन्दू संप्रदाय नहीं था। किन्तु 1857 के तत्काल बाद यह परिस्थिति तेजी से उलट-पुलट गयी। नव गुलामी के दौर में व्यापक, सनातन, वैदिक धर्माचरण, परंपराओं का नामकरण एक संकीर्ण 'हिन्दू संप्रदायों' के रूप में हुआ। 1857 के गदर से त्रस्त फिरंगी हुक्मरानों ने

सिर्फ हमारे व्यापक धर्माचरण को एक संकुचित संप्रदाय में ही परिवर्तित नहीं किया बल्कि यह भी 'याद' करना सिखाया कि मुसलमान हमलावर और शासकों में कोई विशेष अंतर नहीं था – दोनों ने यहां के मूल निवासी हिन्दू पर जुल्म ढाये और फिरंगी शासन ने उन जुल्मों से 'हिन्दूओं' को निजात दिलायी है। इस मानस निर्माण में फिरंगी जो कुछ कर रहे थे वह तो अपनी जगह है ही, लेकिन हिन्दुस्तानियों ने भी जिस तरह अग्रणी बनकर समूचे समाज को कौमों और संप्रदायों में बांटा वह भी अपने आप में अनोखी प्रक्रिया थी। इस पूरी प्रक्रिया का सुधारवाद का आवरण था। इन सुधारवादी प्रक्रियाओं के चलते हम वहां से कहां पहुंच गये कि हम आज अपनी पहचान भी नहीं जानते। हमारी विस्मृति की कोई सीमा नहीं। हमें मालूम नहीं कि यज्ञोपवीत क्या है? चोटी क्यों रखते हैं? गाय, जल, स्त्री या पीपल, बड़ की पूजा क्यों करते हैं? सुबह चिड़ियों को दाना क्यों डालते हैं? गाय, कुत्ते के लिए रोटी क्यों बनाते हैं? कव्वे का कौर क्यों रखते हैं? अब यह सब उस अतीत के विषय हैं जिनकी खोज विदेशी-फिरंगी शोधकर्ता करेंगे और हमें तीर्थ और जिजमानी का अर्थ बतायेंगे।

उसी मानसिक गुलामी के दौर में पहले पहल 'अंग्रेजी शिक्षित' और 'वेद दीक्षित हिन्दुओं' के मन में 33 करोड़ देवी-देवताओं की उपासना, मूर्ति पूजा, जिजमानी आचरण, सैकड़ों-हजारों पंथ-संप्रदायों में विभक्त होने की 'पीड़ा' से 'हीनता' और 'आत्मग्लानि' के एहसास का उदय हुआ। और इस सत्य को तो नकारा ही नहीं जा सकता कि उस युग में आम हिन्दुस्तानी ने फिरंगी हुकुमत के 'स्थायित्व' और कानून की व्यवस्था से बड़ी 'राहत' महसूस की थी। औरंगजेब के समय से हिन्दुस्तानी ने भयावह अराजकता का दौर झेला था। उसके लिए तो यह सहज ही था कि वह फिरंगी सभ्यता से मूतमईन हो जाय। उस युग में हिन्दुस्तानी से परिवर्तित हिन्दू तो हुकुमत में 'स्थायित्व और कानून व्यवस्था' के लिए फिरंगी हुकुमत के प्रति इसलिए भी आभारी था कि 'गोरी सरकार' ने उसे 'मुसलमानी जुल्म' से 'निजात' दिलायी थी। नतीजतन अनेक 'हिन्दू धर्म' प्रचारकों को क्रिस्तानी जैसे 'एकमेव' परमेश्वर और 'धर्म की रक्षा' के लिए संगठित एकता और मिशनरी उत्साह की आवश्यकता का इल्हाम हुआ। 'सुधार' की उत्कट प्रेरणा से ब्रह्म समाज, आर्य समाज, देव समाज, प्रार्थना समाज, थियोसोफिकल सोसायटी, रामकृष्ण मिशन जैसे अनेक सुसंगठित संप्रदायों का प्रादुर्भाव इसी युग में हुआ। 'संगठित संप्रदाय' के साथ-साथ खंडन-मंडन, शुद्धि और वैमनस्यकारी पारस्परिक विवाद की परंपराओं का विकास भी इसी युग की देन हैं। नकल और प्रतिस्पर्धा की भावना कितनी तीव्र और उग्र थी/है इसका अनुमान लगाने के लिए एक ही तथ्य पर्याप्त है। मुसलमानों में बाराबफात पर और इसाईयों में क्रिसमस, नव वर्ष और इस्टर के अवसर पर पटाखे-आतिशबाजी का जलसा बनकर रह गया है। विशेष चिंता का विषय यह है कि हिन्दू के मन में इस विकृति से संबंधित न तो कोई ग्लानि शेष है, और न ही निजी परंपरा की स्मृति। दिवाली की तरह हमारी अधिकांश परंपरा का दिवाला निकल गया है। हमारी

विडम्बना और दुविधा यही है कि अध्यात्म प्रेरित धर्माचरण की यह परंपरा की बजाय आज हमने विशुद्ध भाववेष के जुलूस और जलसे को ही धर्म का पर्याय मान लिया है। गुलाम मानस की इस दुविधा को पुटला कर, नकार कर हम अपना सर्वनाश ही कर सकते हैं किंतु औपनिवेशिक या टोडी मानसिकता से मुक्त नहीं हो सकते।

संभवतः सनातन पौराणिक विश्वासों और 'धर्म' की अतिवादी आधुनिक व्याख्या, खंडन—मंडन (रिलिजियस डिस्प्यूटेशन) की प्रथा, आतिशबाजी—आचरण आदि उस गुलामी के समय की विषम परिस्थितियों से पार पाने के लिए अनिवार्य रही हों। 'टोडी हिन्दू' का विकास शायद संकटकालीन धर्म के मान्यताओं के अनुरूप ही था। राजा राम मोहन राय से लेकर स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, महर्षि अरविन्द, महात्मा फुले, लोकमान्य तिलक, वीर सावरकर, हेगडेवार आदि तक उस युग के अनेक महापुरुष उस कठिन संघर्ष के योद्धा हैं जो शायद जीवित बचे रहने की अंतिम लड़ाई थी। किंतु तीव्र प्रतिक्रिया की प्रक्रिया में नकल से बचने की संभावना नहीं होती। इसलिए यह सभी महापुरुष यदि एक स्तर पर खिस्तानी और इस्लामी सभ्यता से नकारात्मक समझौते के प्रतीक हैं तो उस विकट युग में सनातन विश्वासों की दुर्गम्य रक्षा के प्रतीक भी। हिन्दुस्तान का इतिहास इन महापुरुषों के प्रति कभी भी अकृतज्ञ या कृतघ्न नहीं हो सकता किंतु स्वतंत्र देश और समाज की मनोवृत्ति भी हीन, प्रतिक्रियावादी और नकलची बनी रहे यह नितांत घातक सिद्ध होगा। दूसरे विश्व युद्ध के दौरान यदि हमारे 'राष्ट्रवादियों' के एक वर्ग विशेष को जर्मनी के चांसलर हिटलर में 'एक आर्य' की छवि दिखायी देती थी तो यह दुश्चिंता का विषय नहीं था। किंतु यदि आज भी हमें हिटलर की नात्सी पार्टी में अपने आदर्श का दर्शन होता है तो यह खतरनाक लक्षण है। यदि आज भी हमारी यह मान्यता है कि हिटलर ने 'आधुनिक आयुद्धों का विज्ञान 'वेद अध्ययन' से विकसित किया था, या हम आज भी वैदिक सूत्रों और परंपराओं का औचित्य आधुनिक भौतिक विज्ञान की अवधारणाओं से तुलना में ढूँढ रहे हैं तो हमारी विकृत मानसिकता के इलाज की निश्चित और तत्काल आवश्यकता है। संरचनात्मक सृजन की मानसिकता न तो नकल पर आधारित हो सकती है और न ही प्रतिक्रियावाद पर। आज कोई वजह नहीं कि हमारे पुण्य अवसर, जिजमानी त्यौहार, आतिशी प्रदूषण के कारक बने रहें और हम बच्चों का जन्म दिन केक काट कर मनाते रहें। या स्वतंत्र नागरिकों का 'स्वराज' गुलामी का प्रतीक बना रहे और फिरंगी हुकुमत के दिनों की तरह कलेक्टर—कोतवाल का अदब बजाता रहे। इसका कोई वाजिब कारण नहीं कि स्वतंत्र हिन्दुस्तान में स्वच्छ जल के झरने, नाले, तालाब और बावड़ी आदि नगरीय प्रदूषण के केंद्र बने रहें। यह सच है कि गुलामी के युग में जैसे—जैसे बर्तानवी हुकुमत का शिकंजा कसता गया वैसे—वैसे हीन ग्रंथि की गांठे ऐंठती गयी। इस 'ऐतिहासिक ऐंठन' का ही नतीजा है कि 'हिन्दुत्ववादी' के लिए आज भी यह अनिवार्य है कि वह वेद—उपनिषद आदि से लेकर रामायण महाभारत तक अपने हर ग्रंथ की

ऐतिहासिकता को प्रमाणित करे और किन्हीं कारणों से ऐतिहासिक प्रमाण जुटाने में असमर्थ रहे तो पांच-दस रुपये के स्टाम्प कागज पर शपथ पर प्रस्तुत कर दें। यदि वैदिक परंपराओं को किस कदर हास्यास्पद बनाया जा रहा है। पौराणिक सनातन मान्यता के अनुसार वेद की रचना सृष्टि की रचना के साथ हुयी। सृष्टि की उत्पत्ति की काल गणना आधुनिक गणित की काल गणना से नितांत परे की बात हैं पाश्चात्य वैज्ञानिक मान्यताओं के अनुसार भी भौम सृष्टि अरबों वर्ष पुरानी है। लेकिन ऐतिहासिक ज्ञान की परंपरा तो अधिक से अधिक पांच हजार वर्ष की सीमाओं में बंधी है। सृष्टि की उत्पत्ति के साथ जिस वेद की रचना हुयी उस विद्या का इतिहास और काल कैसे निर्धारित होगा ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का दुगुना-चौगुना या दस-बीस गुना विस्तार भी कर दें तो भी सृष्टि के साथ उत्पन्न वेद विद्या की ज्ञान परंपरा को ऐतिहासिक नजरिये से कैसे देखा और समझा जायेगा।

यह हमारी गुलाम मानसिकता का दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम है कि हम अपने पौराणिक वांग्मय को इतिहास में परिवर्तित करने का 'अद्भूत' प्रयास कर रहे हैं। इस हास्यास्पद विडम्बना का आभास भी नहीं कि सैकड़ों-हजारों 'रामायण' वाले देश में एकमेव एक 'ऐतिहासिक' रामायण को स्थिर कर देने के क्या दुष्परिणाम होंगे। वाल्मिकी ने जो रामायण 'रामजन्म' से पूर्व रची थी उसकी ऐतिहासिकता किस साक्ष्य के आधार पर प्रमाणित होगी। दुर्भाग्य की सीमा तो यहां तक पहुंची है कि सैकड़ों सरस्वतियों (जिनमें अनेक अदृश्य सरस्वतियां और मानस सरस्वती प्रमुख हैं) के देश में एक सूखी नदी की हजारों, शायद लाखों वर्ष से मृत धारा को ही सरस्वती प्रमाणित करने में जुटे हैं। और ऐसा हम सिर्फ इसलिए कर रहे हैं कि लगभग 100 वर्ष पहले 1880-81 में एक गोरे साहब बहादूर न अज्ञानवश मरुस्थल में पाये एक मृत नदी के चन्द्र अवशेषों को वैदिक सरस्वती घोषित कर दिया। रामायण, महाभारत या अन्य किसी पुराण के भूगोल में ऐसी किसी सरस्वती के अवशेषों का किंचित मात्र उल्लेख उपलब्ध नहीं - किंतु 1881 में एक गोरा साहब यह लिख गया तो फिर सरस्वती थार मरुस्थल से बहती ही होगी। इस तरह के बेबुनियाद ढकोसलों को पुष्ट करना वर्तमान में एक उत्तम रोजगार का रूप ले चुका है। अनेक आधुनिक विद्वानों और हिन्दुत्वादी संगठनों के लिए यह धंधा चमत्कारी सिद्ध हुआ है। इन क्रिया-कलापों से हम अपने धर्म, संस्कृति, परंपराओं, मान्यताओं का कैसा मजाक उड़ा रहे हैं इसका हमें कोई अनुमान ही नहीं। पुष्कर सृष्टि का केंद्र बिन्दु है या नहीं और ब्रह्मा जी ने सृष्टि की रचना इस केंद्र बिन्दु पर स्थित होकर की थी या नहीं यह किन ऐतिहासिक प्रमाणों या कार्बन डेटिंग से कैसे निर्धारित होगा? कृष्ण लीला की ब्रजभूमि द्वापर युगीन है या नहीं यह किसी पद्धति से प्रमाणित होगा? समस्त कृष्ण लीला वांग्मय का रचनाकाल सात-आठ सौ वर्ष से अधिक नहीं, प्राचीन संस्कृत वांग्मय में तो बालकृष्ण लीला का उल्लेख तक उपलब्ध नहीं। बाल कृष्ण लीला की ब्रज भूमि का प्राकट्य तो इतिहास पुरुष चैतन्य महाप्रभु की प्रेरणा और दिव्यदृष्टि का परिणाम हैं यदि इसे द्वापर युगीन प्रमाणित

करना पड़ा तो 'ऐतिहासिक पद्धति' का कितना व्यापक पौराणिकरण करना होगा इसकी कोई कल्पना भी हमें नहीं है। यह कौन सा हिन्दुत्व है जिसमें सृष्टि के चार युगों— सतयुग, त्रेता, द्वापर और महाभारत युद्ध के बाद प्रारंभ हुए कलियुग — में वाचिक परंपरा से विकसित पौराणिक आख्यान को पांच, दस, पंद्रह हजार वर्ष की परिधि में समेटने का प्रयास जारी है। हड़प्पा, मोहनजोदड़ो आदि की तारीख ही खिंचते—खिंचते पांच से दस और अब पंद्रह हजार वर्ष हो चुकी है।

'टोडी हिन्दू' की आधुनिकतावादी विडम्बनाओं और दुविधाओं की सूची अनंत है। मूल मुद्दा यह है कि तथाकथित सुधारवादी—हिन्दू—विश्व दृष्टिकोण के अंतर्गत विकसित 'ऐतिहासिक परिप्रेष्य' के प्रचार और व्यापक प्रभाव वश हमें (मध्यम वर्गीय, उच्च वर्गीय आधुनिक हिन्दू) यह भी याद नहीं रह गया कि हिन्दुस्तान, जम्बूद्वीप या भरतखण्ड अपने आदि मूल से संघीय संस्कृति और विकेंद्रित समाज व्यवस्था का देश है — 'रामायण' काल से गुप्त वंश तक भारत देश में कभी भी महान साम्राज्य की परंपरा नहीं थी। राजा सदैव स्थानीय होते थे। 'रावण' युद्ध हारता था तो 'विभीषण' गद्दी पर बैठता था। एकछत्र साम्राज्य की इस देश में कभी कोई परंपरा नहीं थी। मौर्य एवं गुप्त वंश का मगध साम्राज्य भी जनपदों का संघ था — फाहियान, सुंगयुन और सुलेमान सौदागर के यात्रा विवरणों से स्पष्ट है कि केंद्रीय सत्ता की अत्यंत सीमित भूमिका थी। औपनिवेशिक विद्वानों ने हमारे ऐतिहासिक युग के वर्णन और विवरण में जो रचना बनायी उस पर भी अभी तक किसी स्वदेशी विद्वान ने समुचित टिप्पणी प्रस्तुत नहीं की है।

'घट—घट तीरथ, क्षण—क्षण अवतार' का सिद्धांत हिन्दू सांस्कृतिक बहुलता और व्यक्ति की निजता के संतुलन का विज्ञान है। प्रत्येक जन्मना व्यक्ति ईश्वर का अवतार है उसी तरह जैसे मिट्टी का कण—कण और जल की बूंद—बूंद ईश्वर का रूप है। तीर्थ परंपरा और सांस्कृतिक वैविध्य का सिद्धांत पर्यावरण आधारित जीवन की वैज्ञानिक पद्धति भी है। प्राकृतिक पर्यावरण से लयबद्ध जीवन ही यज्ञ व्यवस्था या वैदिक जीवन-पणाली का नाजुक आधार है। गौ—पूजा वास्तव में जिजमानी (यज्ञमानी) प्रथा के सर्वोत्तम प्रतीक की पूजा है। जितने कुनबे उतने कुल देवता और उनके अनेक पितृ देवता। जितने गांव उतने लोक देवता और ऐसा प्रत्येक स्थान जहां पशु, पक्षी, बटोही की वास्ते जल और आश्रम है वहीं तीर्थ है। सृष्टि में जितने जीव उतने देवी देवताओं के रूप। पर्यावरण और जलवायु में स्थानीय परिवर्तन या भिन्नता प्राकृतिक अनिवार्यता है — भिन्नता प्रकृति का निजी सुरक्षा कवच हैं प्रकृति की इस भिन्नता से लोकधर्मी सामंजस्य का नाम 'वैविध्य' है। जिसका वैदिक—हिन्दू मूर्त रूप 33 करोड़ देवी देवता हैं। पर्यावरणवादी विज्ञान को मानने वाले के लिए 33 करोड़ देवी—देवता और असंख्य तीर्थ गर्व का विषय है जातीय ग्लानि का नहीं।

बर्तानवी हुकुमत से आजादी के बाद पिछले पचास वर्षों में 'टोडी हिन्दू' के आधुनिक, विकासवादी मानस का बहुत तीव्रता और गहराई से प्रसार हुआ है। समस्त मध्यवर्गीय हिन्दू के आचार-विचार का तौर-तरीका और रहन-सहन की पद्धति में पाश्चात्य नकल पर आधारित भारी फेर बदल हुआ है। बैठक-दीवान खाने आदि का सिर्फ नाम ही ड्राईंग रूम नहीं हुआ बल्कि आडम्बर का तौर-तरीका भी बुनियादी स्तर पर बदला गया है। रसोई घर का सिर्फ नक्शा ही नहीं बदला, या पाटे के स्थान डायनिंग टेबुल ने घेर लिया हो - इतना ही नहीं - व्यंजन बनाने की पद्धति, ईंधन, भोजन के समय में आमूलचूल परिवर्तन और ताजे-बासी की अवधारणाओं में भी ह्रांस हुआ, उसकी कोई सूझ-बूझ हमें नहीं है। गुलामी के दिनों फिरंगी नौकरशाहों का रात्रि भोजन 8.30 से 10.30 के बीच चलता था। आज आम शहरी मध्यम वर्ग रात्रि भोजन 9-10 बजे करता है - क्यों? देश के स्वास्थ्य पर इसका क्या प्रभाव पड़ा इसका कोई अनुमान हमारे पास नहीं है। हम में से किसी को यह खबर भी नहीं है कि हमारे रात्रि भोजन का समय क्यों बदला है। हममें से अधिकांश को यह भी पता नहीं है कि समस्त पाश्चात्य जगत सायंकालीन भोजन करता है रात्रि भोजन नहीं। क्या स्वदेशी शुचिता और हाईजीन सचमुच इतनी निकम्मी थी कि उसे त्यागना ही चाहिए था और उसके स्थान पर जो कुछ हम अपनाते जा रहे हैं वह वास्तव में श्रेयस्कर है। विवेक का प्रयोग स्वतंत्र नागरिक और स्वतंत्र समाज का गुण है विवेकहीनता परतंत्र होने का लक्षण है। इसी गुलाम मानसिकता के प्रभाववश 'आधुनिक हिन्दू' को गंगा, यमुना के भयावह प्रदूषण से कोई व्यथा नहीं होती। आज 'विकास' की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए 'हिन्दू' सहज भाव से नर्मदा घाटी में स्थित प्रचीन शिवतीर्थों के समूल नाश को उचित मानता है। यह स्वतः प्रमाणित तथ्य है कि घर को कीमती सोफा, बर्मा टीक की मेज कुर्सियों, आलमारियों में पुस्तकें आदि सजा लेने से ही कोई परिवार कुलीन और सुसंस्कृत नहीं हो जाता। सुसंस्कृत बनने की प्रक्रिया आचरण में निहित है - आडम्बर में नहीं। प्रामाणिक आचरण के अभाव में कोरा आडम्बर भौडापन अख्तियार कर लेता है। यह चिंता का विषय है कि 'आडम्बर' जैसी सकारात्मक अवधारणा आज एक नकारात्मक शब्द है। इसी के अनुरूप व्यापक रोजगार के अभाव में, 'नर्मदा बांध', जो विकास के साथ-साथ तीर्थ-ध्वंस, वन-विनाश एवं व्यापक शरणार्थीकरण का प्रतीक भी है, और 'एटमबॉम्ब, जो आधुनिक विकास का महत्वपूर्ण लक्ष्य है, का रास्ता अगले 500 वर्ष भी हिन्दुस्तान को विश्व पंचायत के प्रथम पचास में बराबरी का दर्जा नहीं दिलवा सकता। जबकि तीर्थ स्वराज एवं विद्युत, जल स्वावलंबन के मार्ग से हिन्दुस्तान अगले 20-30 वर्षों में 150 करोड़ टन अनाज और 300 करोड़ टन फल, फूल, चारा, ईंधन, टिम्बर आदि के उत्पादन के साथ-साथ एक लाख मेगावाट विद्युत ऊर्जा के लक्ष्य को सहज प्राप्त कर सकता है। जिजमानी सामाजिक व्यवस्था इसी आंतरिक तर्क और प्रकृति व मानव की संयुक्त लय पर आधारित है कि जो जितनी ऊर्जा का उपभोग करेगा वह निजी श्रम से उससे

अधिक ऊष्मा सृष्टि और समाज को लौटायेगा। ऊर्जा का उपभोग और ऊष्मा का प्रदान आधुनिक एक्सचेंज या 'जैसे को तैसा' वाली पारस्परिकता के व्यवहार पर आधारित नहीं – तीर्थ परंपरा और जिजमानी धर्म स्वभावगत आचरण पर निर्भर है। 100 करोड़ आबादी के देश में गंदे पानी एवं मल की समुचित निकासी से करोड़ों नहीं अरबों यूनिट ऊर्जा का उत्पादन संभव है। तीर्थों, विशेषकर नदियों को प्रदूषण मुक्त बनाने के प्रयोग से जो सामाजिक ऊर्जा और पारस्परिक मंगल कामना विश्व कल्याण और नवनिर्माण के लिए उत्पन्न होगी उसकी मात्रा का कोई अनुमान ही नहीं लगाया जा सकता। इसके विपरीत यह भी सुनिश्चित है कि उपयुक्त मात्रा में सामाजिक ऊर्जा का अभाव हो तो गली मोहल्ले की किसी छोटी सी नाली को साफ करना भी संभव नहीं। 400 करोड़ व्यय करने के बाद गंगा में प्रदूषण की मात्रा बढ़ी है, घटी नहीं। सामाजिक ऊर्जा के अभाव में तंत्र निरर्थक होते हैं।

नदी-नालों की पवित्रता और जल की व्यापक निकासी (ड्रेनेज) का जीर्णोद्धार या तीर्थ पुनर्निर्माण उस अनवरत इतिहास यात्रा का प्रतीक है जो व्यक्ति को उसके कारण, उद्देश्य, पूर्व पुरुषों या पूर्वजों की परंपराओं से जोड़ते हुए, वर्तमान की जटिलताओं से संघर्ष की प्रेरणा देता है। इस प्रयोग में उज्ज्वल भविष्य की अनंत संभावनाओं का समावेश है। तीर्थ निर्माण कार्यक्रम में विश्व और व्यक्ति दोनों के नवनिर्माण की असीम क्षमता है – बंजर, खारी और मरुस्थली बनती धरती को पुनः सजल ओर सरसब्ज बनाये रखने की विधि ही तीर्थ परंपरा है। हमारी गरीबी समाप्त करने का सर्वाधिक कारगर उपाय धरती को प्रदूषण मुक्त कर पुनः सजल बनाने का है। यह उपाय तीर्थ पुनर्निर्माण से सहज संभव है। वर्षा या वार्षिक जल का ऐसा प्राकृतिक संरक्षण संभव है जिससे नदी, नालों और व्यापक निकासी (ड्रेनेज) की समस्त धाराओं को स्थायित्व मिल सकता है और भूमि की सजलता नियमित की जा सकती है। हिन्दुस्तान जैसे 100 करोड़ के मूलतः ग्रामीण आबादी वाले देश में स्वच्छ एवं स्वस्थ जल उपलब्ध कराने का एम मात्र उपाय स्थानीय स्तर पर प्राकृतिक जल का संरक्षण और झरने, नदी, नालों में बहते पानी की अविरलता है। इससे अतिरिक्त कारगर उपाय नहीं। स्थानीय जल को नष्ट करके हिमालय या आल्प्स के पानी से इतने बड़े देश में इंसान और जमीन की आधी चौथाई प्यास भी नहीं बुझाई जा सकती। फिर आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं के चलते तो हिमालय ही सूखता जा रहा है क्योंकि उसकी जल-संरक्षण शक्ति का प्रतिदिन ह्रास हो रहा है।

जल संरक्षण के दो ही सिद्धांत हैं— पहल, जल का संरक्षण उसी स्थान पर हो सकता है जहां जल की बूंद बरसती है। जब पृथ्वी पर गिरी बूंद अपने स्थान से आगे बढ़ जाती है तब उसके संरक्षण का प्रयास अनर्थकारी नहीं, तो भी अवैज्ञानिक तो है ही। धरती के भीतर जल संरक्षण – सतही नमी के दबाव से होता है। बूंद गिर कर वह जायेगी तो सतह पर अपेक्षित सजलता नहीं बनेगी, पानी अपने दबाव से धरती के अंदर जाता है इसलिए आवश्यक है कि पानी जहां गिरे पहले वहीं थमें और जब

वहां सजलता पर्याप्त मात्रा में निर्मित हो जाय तो आगे बढ़े। यदि जल आकाश से गिरते ही आगे बढ़ गया तो न धरती सजल बनेगी और न ही मिट्टी अपने स्थान पर रूकेगी। सतही सजलता का शीघ्र वाष्पीकरण हो जाता है। धरती काफी गहराई तक सजल होगी तो सतह पर वाष्पीकरण की बजाय बायोमास उत्पन्न होने की क्रिया शुरू होगी। जमीन की सतह पर बायोमास होगा तो मिट्टी का संरक्षण होगा। पर्याप्त मिट्टी और पर्याप्त हरियाली होगी तो जल का स्वतः संरक्षण हो सकेगा और पानी नदी, नालों, झरनों में रिस-रिस कर पहुंचता रहेगा और धरती की सतह के नीचे अनेक स्तरों पर ड्रेनेज अनिवार्य है। हिन्दुस्तान में पानी सिर्फ 3-4 महीनं बरसता है किंतु ड्रेनेज तो साल भर बना रहना चाहिए – धरती यदि अंदर से सजल होगी तो ऊपर की मामूली सिंचाई भी पर्याप्त होगी। इसलिए ध्यान देने का विषय जल की प्राकृतिक अविरलता है न कि बांध बनाकर उसमें गतिरोध पैदा करना। 'बांध नियंत्रण' की समस्त आधुनिक अवधारणा वैज्ञानिक सोच पर आधारित नहीं है। क्योंकि जल विज्ञान का दूसरा महत्वपूर्ण सिद्धांत समस्त डेल्टा क्षेत्र का व्यापक एवं नियमित फ्लशिंग हैं यदि डेल्टा समुचित रूप से घुलेंगे नहीं तो समुद्रीय क्षार कण-कण को क्षारीय बनाता समूची धरती को लील लेगा – सर्वोत्तम उपजाऊ धरती डेल्टा क्षेत्रों की होती है और उसे क्षारीय बंजर बनाने का कारगर तरीका यही है कि डेल्टा तक पर्याप्त पानी न पहुंचने दिया जाय – जैसा कि अनेक डेल्टा क्षेत्रों में आज किया जा रहा है। पानी विज्ञान का एक ही सूत्र है – बहता पानी निर्मला।

जीवन के लिए जल का अविरल बहना उतना ही अनिवार्य है जितना कि जल का संरक्षण। जल के समुचित संरक्षण और पर्याप्त एवं अविरल बहाव में संतुलन ही तीर्थ परंपरा का आधार है। जल संरक्षण से संबंधित कार्यक्रम छोटे से छोटे स्तर का हो या नर्मदा और टिहरी जैसे मैगा डैम का हो – जल संरक्षण के दोनों प्राथमिक सिद्धांतों का प्रतिपालन अनिवार्य है। आज जिस तदर्थवादी अवैज्ञानिक तरीके से जल-भरण-क्षेत्र-विकास कार्यक्रम चल रहा है यह बहुत खतरनाक है। इसके निकट एवं दूरगामी भविष्य में क्या दुष्परिणाम हो सकते हैं इसका सहज अनुमान ही नहीं लगाया जा सकता है। कच्छ की बनी एक अत्यंत महत्वपूर्ण चारागाह रही है – विशेष रूप से सांचोरी और गीर गाय के वंश के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण थी। किंतु पिछले 40 वर्षों से चलाये जा रहे जल-भू-संरक्षण कार्यक्रम के तहत कच्छ के समुचित पानी-बहाव को इस तरह बाधित कर दिया है कि एक विशाल प्राकृतिक संपदा, जो लाखों जन की आजीविका का आधार थी, का सहज ही विनाश हो गया और किसी को कानों कान खबर ही नहीं हुयी। छोटी योजनायें भी अपने-आप में कम खतरनाक नहीं होती। कच्छ के रण में बसने वाले 5-10 लाख फ्लेमिंगोज का घर उजड़ गया। किंतु यह किसी की चिंता का विषय नहीं है। किसी ने यह पता करना भी जरूरी नहीं समझा कि कच्छ से उजड़े फ्लेमिंगोज ने कहां जाकर घर बसाया। आज लगभग 1,00,000 करोड़ रुपये की जल एवं जल-विद्युत योजनायें प्रगति पर हैं

या प्रस्तावित हैं – इनमें से एक भी समुचित वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित नहीं। इस कार्यक्रम में स्वैच्छिक संस्थाओं द्वारा की जा रही धीमा-धीमी भी किसी तरह कम भयावह नहीं। पानी को सिर्फ प्रकृति के बनाये गड्डों में ही रोका जाना चाहिए, और इस तरह उसकी गति को नियंत्रित करना चाहिए कि अधिक से अधिक पानी धरती के भीतर समा जाय। धरती का आवरण जल नहीं हरियाली है। पानी का स्थायी स्रोत भी हरियाली है। जहां पर्याप्त हरियाली है वहां प्रकृति आवश्यकता का पानी जुटा देगी। हरियाली नष्ट करके पानी एकत्रित करना प्रकृति के साथ खिलवाड़ ही नहीं अवैज्ञानिक भी है। बरसात का चरित्र काफी हद तक हरियाली के चरित्र पर निर्भर करता है जहां हरियाली है वहां किसी असंतुलन के कारण यदि बादल फट भी जाय तो भी धरती अतिवर्षण सह लेगी। किंतु जहां हरियाली नहीं है वहां तेज बरसात से व्यापक विनाश होता है और नन्ही बूंदे भाप बन कर उड़ जाती हैं। गुलामी के समय से वर्तमान तक पानी-नीति के संदर्भ में जो तदर्थवाद चल रहा है, यह उसी का नतीजा है कि पानी की उपलब्धता निरंतर घट रही है और बाढ़ की विभीषिका निरंतर बढ़ रही है। 1950 के दशक में बाढ़-संभावित क्षेत्र की कुल सीमा दो से ढाई करोड़ हेक्टेयर थी वह आज 4 करोड़ हेक्टेयर से अधिक हैं वन, वनस्पति, मिट्टी और पानी के संदर्भ में तदर्थवादी नीतियां हमारे व्यापक विनाश का कारण बन रही हैं।

महाभारत युद्ध के पश्चात भीष्म पितामह ने राज्य-प्रशासन संबंधी नीति सूत्रों की जो सीख महाराज युधिष्ठिर को उनके आग्रह पर दी। उनमें एक महत्वपूर्ण सूत्र यह भी था कि "शेरों की रक्षा करना राजा का अनिवार्य धर्म है।" भीष्म पितामह ने स्वयं इस सूत्र की विवेचना इस तरह की थी कि शेर प्रकृति के रखवाले हैं। जिस राज्य में शेर सुरक्षित हैं वहां वन संपदा सुरक्षित और संतुलित रहती है। जहां वन संतुलित व सुरक्षित होते हैं वहां न उप-वर्षण होता है न अति-वर्षण ऐसे समवर्षा के राज्य में ही जनता समृद्ध होती है और सहज कर्तव्यभाव से कर चुकाती है। जिस देश की जनता समृद्ध नहीं वहां धर्म-राज्य संभव नहीं। अतः शेरों की रक्षा धर्म परायण राजा और प्रजा का कर्तव्य है। आज जैविक वैविध्य का सवाल तो उठाया जा रहा है – शेरों की सुरक्षा के लिए वनों का 'आरक्षण' भी हो रहा है। किंतु शेरों की प्रजातियां लगभग विनाश की कगार पर पहुंच चुकी हैं। दुर्गा पूजा के सार्वजनिक उत्सव का कोई महत्व नहीं, यदि उसके वाहन की रक्षा संभव नहीं। शेरों की रक्षा के अतिरिक्त वन-वनस्पति और व्यापक प्रकृति की रक्षा का अन्य कोई उपाय नहीं।

वार्षिक वर्षा के आधार पर लगभग 40 करोड़ हेक्टेयर लिटर पानी प्रति वर्ष भारत देश को उपलब्ध होता है तीर्थ विज्ञान के अनुसार यदि इसमें से आधे पानी के नियमित एवं 'निर्मला' बहने की परिस्थिति पुनर्स्थापित कर दी जाये तो इस देश की बेकारी और समस्त दुनिया की भूख का निकारण संभव है। लगभग इतना पानी आज भी समुद्र में जाता है मगर अवैज्ञानिक रीति से। जलनीति के संदर्भ में पानी

का गणित गौण विषय है, महत्वपूर्ण तथ्य पानी की संस्कृति का है। इस तथ्य की सूझबूझ में ही भारत देश का नवनिर्माण संभव है।

जल एवं तीर्थ पवित्रीकरण के संदर्भ में हरिद्वार, मथुरा, काशी में छिटपुट प्रयास पिछले एक दशक से चल रहे हैं। ऐसे स्वतः प्रेरित प्रयासों और विशिष्ट मठों एवं अखाड़ों के साधू-संत समुदायों के संयुक्त सहयोग से इस आंदोलन को व्यापक रूप देने का प्रयास करना चाहिए। हर गांव, कस्बे और नगर के निजी महत्वपूर्ण तीर्थ हैं – प्रयास यह होना चाहिए कि गांव-गांव, नगर-नगर ओजस्वी युवजनों में यह प्रेरणा जागृत की जाय कि वह स्वतःस्फूर्त ऊर्जा से स्थानीय तीर्थ-पुनरुद्धार समिति का गठन करें जो अपने तीर्थ क्षेत्र जल, नगर, मंदिर आदि को स्वच्छ एवं निर्मल बनाने का संकल्प करें। यह समितियां तीर्थ चेतना के साथ-साथ स्थानीय स्वावलंबन और म्युनिसिपल-स्वराज के लिए आंदोलन का नेतृत्व भी करें। क्योंकि लोक-सवराज और स्थानीय स्वावलंबन के अभाव में कोई निर्मलीकरण संभव ही नहीं है। स्थानीय स्तर पर किसी क्षेत्र को उतना ही जल उपयोग में लाने का अधिकार है जितना वह स्थानीय स्तर पर आकाश से पाते हैं। यदि निजी क्षेत्र के पानी का उपयोग बीमारी और मच्छर पैदा करने के लिए हो रहा है तो यह अधिकार बिल्कुल नहीं है कि किसी दूर-दराज के क्षेत्र से उसके हिस्से का पानी छीन लिया जाय। स्थानीय उपलब्धि और आवश्यकता में जो कमी-बेसी है उसकी आपूर्ति के लिए राष्ट्रीय समन्वय, बाढ़, जलापूर्ति आदि के आधार पर नियम-कानून बनाये जा सकते हैं। लेकिन किसी भी सूरत में आज जैसी जल-अराजकता कि दिल्ली (शहर और सूबा) अपने प्राकृतिक जल को गंदा नाला बना देगा या भाप बना कर उड़ा देगा, एक बूंद भी संजोयगा नहीं और मांग करेगा हिमालय के पानी में हिस्से की। धीमा-धीमी से पानी की समस्या का निराकरण संभव नहीं है। आम नागरिक के स्तर पर इस विवेक को तभी स्वीकारा जा सकता है जब कि जल की संस्कृति और उपलब्धि की सीमा का वास्तविक ज्ञान आम आदमी को होगा। पिछले 200 वर्ष में जल एवं अन्य प्राकृतिक संसाधनों के संदर्भ में हमारे शिक्षित वर्ग का अज्ञान बहुत विस्तृत हुआ है। इस अज्ञान से मुक्ति का मार्ग ही तीर्थ चेतना संघ का अभीष्ट है।